वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५२ अंक ६ जून २०१४

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक ६

वार्षिक ६०/- **एक प्रति ८/-**

५ वर्षों के लिये - रु. २७५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) - रु. १,२००/-

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में - वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये -

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिये - रु. ४००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) २५३

२. श्रीरामकृष्ण-वन्दना (कविता) (विदेह) २५४

३. मेरा जीवन, मेरा कार्य (४२) पश्चिमी दुनिया में दूसरी बार (स्वामी विवेकानन्द) २५५

४. धर्म-जीवन का रहस्य (३/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) २५९

५. चिन्तन - २२० (मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-निर्माता) (स्वामी आत्मानन्द) २६४

६. सारगाछी की स्मृतियाँ (२०) (स्वामी सुहितानन्द) २६५

७. भारतीय जीवन-दृष्टि और पुरुषार्थ-चतुष्टय (१) (डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा) २६७

८. श्रीरामकृष्ण चालीसा (कविता) (डॉ केदारनाथ लाभ) २७१

९. स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त (युवा संन्यासी, सूक्ष्म से स्थूल, विवादों का मूल कारण, नमक का पुतला) २७३

१०. माँ की मधुर स्मृतियाँ -१२७ विभिन्न रूपों में श्रीमाँ (आशुतोष मित्र) २७५

११. मंत्रदीक्षा और आध्यात्मिक साधना (स्वामी भूतेशानन्द) २७७

१२. कलियुग केवल नाम अधारा (स्नेहा सिंह) २८२

१३. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प २८३

१४. स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण (स्वामी सत्प्रकाशानन्द) २८४

१५. भगिनी निवेदिता : एक श्रद्धांजलि (स्वामी वीरेश्वरानन्द) २८७

१६. स्वामी विवेकानन्द के महान् शिष्य - स्वामी शुद्धानन्द (६) २८९

१७. कर्मयोग - एक चिन्तन (३१) २९१

१८. विवेक-चूडामणि (श्री शंकराचार्य) २९३

१९. समाचार और सूचनाएँ २९४

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।।३९२।।

– जो व्यक्ति धर्म करने हेतु धन चाहता हो, उसे चाहिए कि वह धनी होने की इच्छा को छोड़कर विरक्त बन जाय; क्योंकि पाँव को कीचड़ में डुबाकर उसे धोने की अपेक्षा, उसे कीचड़ से दूर ही रखना बेहतर है ।

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।३९३।।

– जैसे अग्नि में घी डालने से वह और भी भड़कती जाती है, वैसे ही असंयत भोग से कामनाएँ शान्त नहीं होतीं ।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ।।३९४

– न तो मुझे राज्य की कामना है और न स्वर्ग अथवा मुक्ति की । मैं तो केवल दुःखतप्त प्राणियों का दुःख दूर करने की कामना रखता हूँ ।

न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते !
गौरवं लाघवं वाऽपि धनाऽधननिबन्धनम् ।।३९५।।

– हे राजन् ! मनुष्य मनुष्य का दास नहीं, बल्कि धन का दास होता है । सांसारिक बड़प्पन और लघुपना भी धनाढ्यता और निर्धनता के आधार पर ही टिकी हुई है ।

न भू प्रदानं, न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ।।३९६।।

– समस्त दानों में अभयदान को ही महादान कहा गया है; न कि भूदान, स्वर्णदान, गोदान अथवा अन्नदान को ।

न चोरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यम् न च भारकारी ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानं ।।३९७।।

– संसार के समस्त धनों में विद्या-रूपी धन ही सर्वोत्तम है, क्योंकि न तो यह चोरों द्वारा चुराया जा सकता है, न राजा द्वारा छीना जा सकता है, न भाइयों द्वारा इसका बँटवारा कराया जा सकता है, इसका कोई बोझ नहीं होता और इसे जितना ही खर्च किया जाय, उतना ही बढ़ता जाता है ।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ।।३९८।।

– धर्मशास्त्र या वेद का पठन करने मात्र से ही कोई दुष्टात्मा विश्वसनीय नहीं हो जाता । इस विषय में स्वभाव ही सर्वोपरि है, जैसे गाय का दूध स्वभाव से ही मीठा होता है ।

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृंगिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।३९९।।

– नदी, शस्त्रधारी व्यक्ति, नाखूनवाले जीव, सींगवाले पशु, स्त्रियों और राजाओं पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए ।

न धैर्येण विना लक्ष्मिः न शौर्येण विना जयः ।
न दानेन विना मोक्षो न ज्ञानेन विना यशः ।।४००।।

– धैर्य न हो तो धन की प्राप्ति नहीं होती, शौर्य न हो तो विजय नहीं मिलता, दान किये बिना मोक्ष नहीं मिलता और ज्ञान के बिना प्रसिद्धि नहीं प्राप्त होती ।

❖ **(क्रमशः)** ❖

भजन-गीति

– १ –

(वैरागी-भैरव–कहरवा)

भवसागर से पार करो भगवान ।
ना है मेरे भाव-सम्पदा, ना अन्तर में ज्ञान ।।

आश्रित हूँ सब भाँति तुम्हीं पर, राह चलाओ मुझे पकड़कर,
कृपा न हो तो कैसे होवे, स्मरण-मनन-जप-ध्यान ।।

संग रहो तो चिन्ता कैसी, दुःख-संकट की ऐसी-तैसी,
फिर जीवन में चाहे आये, शत आँधी-तूफान ।।

तुम ही सागर तुम ही नैया, तुम ही हो पतवार-खिवैया,
अब 'विदेह' का कर डालो प्रभु, आलोकित मन-प्राण ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

बीत गए दिन ध्यान-भजन बिन, आई रात अँधेरी
बीच भँवर में जा पहुँची है, जीवन नैया तेरी ।।

दिवस गँवाए तुमने सोकर,
धरी कौड़ियाँ खूब सजोकर,
मिटा गई सर्वस्व तुम्हारा, तृष्णा परम लुटेरी ।। बीत..

पद-सम्पद-मद के बन्धन में,
सुख-दुख हास्य और क्रन्दन में,
व्यर्थ गया जीवन सारा ही, करते हेराफेरी ।। बीत...

अब भी चेत सँभल जा प्राणी,
आगे राह कठिन अनजानी,
छोड़ जगत् को फारिग हो जा,
मत कर ज्यादा देरी ।। बीत ..

झटपट सब कर्तव्य निभा ले,
मन की सब उलझन सुलझा ले,
प्रतिपल प्रभु सुमिरन में लग जा,
सुन 'विदेह' की टेरी ।। बीत..

– *विदेह*

पश्चिमी दुनिया में दूसरी बार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

लॉस एंजेलस, १७ जनवरी (जून), १९०० : मैंने सारे जीवन इस संसार के लिये काम किया है, परन्तु यह अपना प्राप्य लिये बिना मुझे रोटी का एक टुकड़ा तक नहीं देता।[२६]

पसाडेना, १५ फरवरी, १९०० : अब मैं नितान्त कठोर बन चुका हूँ – पहले की अपेक्षा मेरी दृढ़ता काफी बढ़ चुकी है – मेरा हृदय मानो लोहे की पत्तियों से जड़ दिया गया है। अब मैं संन्यास-जीवन के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। ...

मुझे यहाँ कुछ सौ डालर मिले हैं। अगले हफ्ते मैं सैन्फ्रांसिस्को जा रहा हूँ; आशा है कि वहाँ मुझे कुछ और प्राप्त होगा। ...

मैं क्रमश: शान्त तथा धीर बनता जा रहा हूँ – चाहे जो भी कुछ क्यों न हो, मैं प्रस्तुत हूँ। अबकी बार इस प्रकार से कार्य में जुट जायेंगे कि उसके पग-पग पर हमें सफलता प्राप्त होगी – एक भी प्रयास व्यर्थ नहीं होगा – यही मेरे जीवन का अगला अध्याय है।[२७]

पसाडेना, २० फरवरी, १९०० : श्री हेल की मृत्यु के दुखद समाचार के साथ तुम्हारा पत्र मुझे कल मिला। मैं दुखी हूँ, क्योंकि साधु-जीवन की शिक्षाओं के बावजूद भी हृदय की भावनाएँ बनी रहती हैं; और फिर जिन अच्छे लोगों से मैं जीवन में मिला उनमें से श्री हेल एक उत्कृष्ट व्यक्ति थे। ... मैं तो कइयों को खो चुका हूँ, बहुत दु:ख झेल चुका हूँ और विचित्र बात है कि किसी के गुजर जाने के बाद, दु:ख यह सोचकर होता है कि हम उस व्यक्ति के प्रति काफी भले नहीं रहे। जब मेरे पिता मरे, तब मुझे महीनों तक कसक बनी रही, (क्योंकि) मैं उनके प्रति अवज्ञाकारी था। ...

हम लाख अध्ययन करें, व्याख्यान सुनें और लम्बी-चौड़ी बातें करें, पर यथार्थ शिक्षक और आँख खोलने वाला तो अनुभव ही है। यह जैसा है, उसी रूप में उत्तम है। सुख और दु:ख से हम सीखते हैं। हम नहीं जानते कि ऐसा क्यों है, पर हम देखते हैं कि ऐसा है और यही पर्याप्त है।... काश, हम सभी निर्विघ्न रूप से अच्छे सपने देख सकते।... तुम अभी तक जीवन में छाया पाती रही हो। मैं तो सारे समय तेज धूप में जलता और हाँफता रहा हूँ। अब एक क्षण के लिये तुम्हें जीवन के इस दूसरे पक्ष की झलक मिली है। पर मेरा जीवन इस तरह के सतत आघातों से बना है, सैकड़ों-गुने गहरे आघातों से; और वह भी निर्धनता, छल और मेरी अपनी मूर्खता के कारण! निराशा-वाद! तुम समझोगी कि यह कैसे आता है। खैर, मेरी, मैं तुमसे क्या कहूँ? तुम इस तरह की सारी बातें जानती हो। मैं केवल इतना ही कहता हूँ और यह सत्य है कि यदि दु:ख का विनिमय सम्भव हो और मेरा मन हर्ष से परिपूर्ण हो, तो मैं सदा-सर्वदा अपने मन को तुम्हारे मन से बदलता रहूँगा। जगन्माता ही सब ठीक-ठीक समझती हैं।[२८]

कैलीफोर्निया, २१ फरवरी, १९०० : वाद-विवाद, शब्दजाल, शास्त्र, साम्प्रदायिक मत-मतान्तर – इनसे मैं अपनी इस बढ़ती हुई उम्र में विष की तरह द्वेष करता हूँ। निश्चित रूप से जानो कि जो काम करेगा, वह मेरे सिर का मुकुट होगा। निरर्थक विवादों और शोर मचाने में हमारा समय नष्ट हो रहा है, हमारी जीवन-शक्ति खर्च हो रही है और मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं।[२९]

सैन्फ्रांसिस्को, २ मार्च १९०० : मैं धनोपार्जन में व्यस्त हूँ, दु:ख बस इतना ही है कि मैं अधिक नहीं कमा पाता। तुम जानती हो मुझे घर वापस लौटने के लिए किसी भी प्रकार से पर्याप्त पैसे पैदा करना है। यहाँ मुझे एक नया कार्यक्षेत्र मिला है, जहाँ पहले से ही मेरी पुस्तकें पढ़कर प्रस्तुत हुए सैकड़ों लोग मेरी बातें सुनने को उत्सुक हैं।

यह सही है कि धन कमाना कठिन और धीमा कार्य है। यदि मैं दो-चार सौ डॉलर भी बना लूँ, तो मुझे बेहद खुशी होगी।...

मेरा स्वास्थ्य पहले से काफी अच्छा है, पर वह पुरानी ताकत अभी नहीं आ पायी है। आशा है कि किसी दिन आ जायगी, पर छोटी-छोटी चीजों के लिए भी कितना कठोर श्रम करना पड़ता है! मेरी बड़ी इच्छा है कि कम-से-कम कुछ दिनों के लिए ही सही, मुझे आराम और शान्ति मिल पाती।... खैर,

जैसी कि मेरी कहने की आदत है, जगन्माता सब ठीक-ठीक जानती हैं, वे ही भलीभाँति जानती हैं। विशेषकर पिछले दो वर्ष अच्छे नहीं रहे। मैं एक मानसिक रूप से नरक की स्थिति में था। अब वह कुछ कुछ दूर हो चला है और मैं आशा करता हूँ कि यह सब अच्छे दिनों और अच्छी स्थिति के लिए ही हुआ है।... मुझे क्षण भर के लिये भी विश्रान्तिपूर्ण जीवन नहीं मिला। मानसिक रूप से मैं सदा ही उच्च दबाव की स्थिति में रहा हूँ।[३०]

सैन्फ्रांसिस्को, ४ मार्च १९०० : कर्म में मेरी रुचि नहीं है – मैं शान्ति और विश्राम पाने का इच्छुक हूँ। मैं स्थान और काल का तत्त्व समझता हूँ, परन्तु मेरा भाग्य या कर्मफल मुझे निरन्तर कर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं ! हमारी दशा भी कसाईखाने की ओर हाँके जा रहे पशुओं के समान है – जो डण्डे के भय से चलते हुए बीच-बीच में सड़क के किनारे पर उगी हुई घास से मुँह भर लेते हैं। हमारे कर्म या भय का यही स्वरूप है – भय ही दु:ख, रोग आदि का मूल कारण है। भय तथा घबराहट के कारण ही हम दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। चोट खाने के भय से हम बड़ा आघात करते हैं। बुराई से बचने के प्रयास में हम बुराई के ही चंगुल में जा फँसते हैं।

हम अपने चारों ओर न जाने कितना भावुकतापूर्ण कचरे का ढेर लगाते हैं। परन्तु इससे हमारा कोई लाभ नहीं होता; बल्कि यह हमें उसी चीज – दु:ख की ओर ले जाता है, जिससे कि हम बचना चाहते हैं।...

अहा, यदि एकदम निडर, साहसी तथा बेपरवाह बनना सम्भव होता ![३१]

सैन्फ्रांसिस्को, ४ मार्च, १९०० : मेरा स्वास्थ्य प्राय: यथावत है – मुझे कोई खास परिवर्तन नहीं दिखायी देता। सम्भवत: इसमें सुधार ही हो रहा है, परन्तु बड़े ही अदृश्य रूप से। तो भी मैं ऐसे ऊँचे स्वर में भाषण दे सकता हूँ कि ३००० लोग सुन सकें; जैसा कि मैंने ओकलैंड में दो बार किया था। दो घण्टे बोलने के बाद भी मुझे अच्छी नींद आती है।[३२]

सैन्फ्रांसिस्को, ७ मार्च १९०० : मेरा स्वास्थ्य एक तरह से ठीक ही है। धन का अभाव, कठोर परिश्रम, तो भी फल शून्य ! लास एंजिलिस से भी दशा खराब है, मुफ्त का हो, तो लोगों की भीड़ जम जाती है, किन्तु यदि गाँठ ढीली करनी पड़ी, तो लोग नहीं आते। अवस्था ऐसी ही है ![३३]

सैन्फ्रांसिस्को, १७ मार्च १९०० : डॉ. तथा श्रीमती हिलर इस नगर में लौट आये हैं और वे घोषित करते हैं कि उन्हें श्रीमती मेल्टन के घर्षणों से बड़ा लाभ हुआ है। जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरी छाती पर तो कुछ बड़े-बड़े लाल चकत्ते उभर आये हैं। पूर्ण आरोग्य के सन्दर्भ में आगे जैसा अनुभव होगा, आपको यथासमय सूचित करूँगा।...

यहाँ मैं 'करो या मरो' वाले सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर रहा हूँ और अभी तक तो यह बुरा नहीं सिद्ध हुआ है। तीन बहनों में से दूसरी श्रीमती हैन्सबेरो यहाँ हैं और मेरी सहायता के लिए अथक परिश्रम कर रही हैं। ईश्वर उनका भला करें। तीनों बहनें तीन देवदूत हैं।... ऐसी आत्माओं का यत्र-तत्र दर्शन इस जीवन की सारी व्यर्थताओं का मूल्य चुका देता है।[३४]

सैन्फ्रांसिस्को, २२ मार्च, १९०० : तुम्हारा कहना सही है कि भारतवासियों के बारे में सोचने के अलावा भी मेरे सोचने योग्य काफी कुछ है, परन्तु अपने गुरुदेव के कार्य को सम्पन्न करने के मेरे सर्वग्राही जीवनोद्देश्य के समक्ष, उन सभी को पृष्ठभूमि में चले जाना होगा। ... मैं चाहता हूँ कि यह समर्पण सुखद होता। पर ऐसा नहीं है; और इसीलिये व्यक्ति स्वाभाविक रूप से ही कभी-कभी कटु हो जाता है, क्योंकि तुम जान लो कि मैं अब भी मनुष्य ही हूँ और अपने मानवीय स्वभाव को पूरी तरह भुला नहीं सका हूँ। आशा है कभी भुला सकूँगा। ...

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो निरन्तर भ्रमण करते हुए थक गया हूँ। इसीलिए मैं घर लौटना और आराम करना चाहता हूँ। मैं अब और काम करना नहीं चाहता। स्वभाव से मेरा मन एक विद्या-व्यसनी के समान एकान्त की ओर आकृष्ट होता है। वह मुझे कभी नहीं मिलता। मेरी प्रार्थना है कि अब वह मुझे मिल जाय, क्योंकि अब मैं पूरी तौर से थक और टूट चुका हूँ। मुझे जब भी श्रीमती सेवियर के हिमालय स्थित आवास से उनका पत्र मिलता है, तो मेरी उड़कर हिमालय में पहुँच जाने की इच्छा होने लगती है। मैं सचमुच ही इस मंचकार्य, सतत भ्रमण, नये-नये लोगों से मिलने और व्याख्यानबाजी से तंग आ चुका हूँ।[३५]

सैन्फ्रांसिस्को, २५ मार्च, १९०० : मैं पहले की अपेक्षा काफी स्वस्थ हूँ और क्रमश: खूब सबल महसूस कर रहा हूँ। कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्ति अब मेरे अति निकट है; और पिछले दो वर्षों के कष्टों ने मुझे कई तरह की महान् शिक्षाएँ प्रदान की हैं। रोग और दुर्भाग्य का फल हमारे लिए हितकर ही होता है, यद्यपि उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम सदा के लिये डूबते जा रहे हैं। मैं मानो असीम नील आकाश हूँ – कभी-कभी बादलों से घिर जाने पर भी, मैं सदा-सर्वदा के लिए वह असीम नील आकाश ही हूँ।[३६]

सैन्फ्रांसिस्को, २८ मार्च १९०० : मैं कठोर परिश्रम कर रहा हूँ; और जितना ही अधिक परिश्रम कर रहा हूँ, उतना ही अच्छा महसूस करता हूँ। निश्चित रूप से इस बीमारी ने मेरा बड़ा उपकार किया है। अब मैं ठीक-ठीक समझने लगा हूँ कि अनासक्ति का क्या तात्पर्य है और आशा करता हूँ कि मैं शीघ्र ही पूर्णतया अनासक्त बन सकूँगा।

हम अपनी सारी शक्तियों को एकाग्र करके किसी एक विषय में आसक्त हो जाते हैं; परन्तु उसी का दूसरा हिस्सा है – क्षण भर में ही किसी विषय से अनासक्त हो जाने की, उससे स्वयं को अलग कर लेने की क्षमता। यद्यपि यह भी उतना ही कठिन

है, तथापि उस ओर शायद ही कभी ध्यान देते हैं। आसक्ति और अनासक्ति – इन दोनों क्षमताओं का पूर्ण विकास होने पर ही व्यक्ति महान् और सुखी हो सकता है। ...

सभी वस्तुओं को घूम-फिरकर वापस लौट आना होगा। बीज से वृक्ष होने के लिए उसे जमीन के नीचे सड़कर मर जाना पड़ता है। विगत दो वर्ष मैं इसी प्रकार धरती के भीतर सड़ रहा था। मृत्यु के कराल मुख में पड़कर मैं जब कभी छटपटाता था, तभी दूसरे ही क्षण समग्र जीवन मानो प्रबल रूप से स्पन्दित हो उठता था। इस तरह की एक घटना मुझे श्रीरामकृष्ण के पास ले आयी थी और एक अन्य घटना ने मुझे अमेरिका में ला पटका; और यही सबसे बड़ी घटना सिद्ध हुई। वह अब समाप्त हो चुकी है – अब मैं इतना शान्त हो चुका हूँ कि कभी-कभी मुझे स्वयं आश्चर्य होने लगता है। अब मैं सुबह-शाम व्यायाम करता हूँ; जब जो इच्छा हो, खा सकता हूँ; रात के बारह बजे लेटता हूँ और नींद भी खूब आती है ! इस प्रकार सोने की क्षमता मुझमें पहले कभी नहीं थी।[३७]

सैन्फ्रांसिस्को, ७ अप्रैल १९०० : अब मैं अपने पैरों पर खड़ा होकर बड़े आनन्द के साथ कठोर परिश्रम कर रहा हूँ। कर्म में ही मेरा अधिकार है, बाकी सब माँ जानें !

देखो, ऐसा लगता है कि जितने दिन यहाँ रहने को मैंने सोचा था, उससे अधिक दिन यहाँ रहकर मुझे कार्य करना होगा। परन्तु इसके लिये तुम विचलित न होना; अपनी सारी समस्याओं से मैं स्वयं ही निपटूँगा। अब मैं अपने पैरों पर खड़ा हो चुका हूँ और मुझे रोशनी भी दीखने लगी है। सफलता मुझे पथभ्रष्ट कर देती और मैं कदाचित् इस सत्य को विस्मृत कर बैठता कि मैं संन्यासी हूँ। इसीलिए माँ मुझे यह अनुभव दे रही हैं।[३८]

अलामेडा, कैलीफोर्निया, २० अप्रैल, १९०० : मैं सोमवार को शिकागो के लिए रवाना हो रहा हूँ। एक कृपालु महिला ने मुझे न्यूयार्क तक का एक पास दिया है, जिसका तीन महीनों के भीतर उपयोग किया जा सकता है। मेरी देखभाल जगदम्बा करेंगी। सारे जीवन रक्षा करने के बाद अब वे मुझसे विमुख नहीं होंगी।[३९]

अलामेडा, २३ अप्रैल, १९०० : आज मुझे चल देना था, पर परिस्थितियाँ कुछ ऐसी उपस्थित हुईं कि जाने के पूर्व मैं कैलिफोर्निया के विशाल रेडवुड वृक्षों के नीचे आयोजित होने वाले एक शिविर में सम्मिलित होने का लोभ संवरण नहीं कर सका। अत: आने का कार्यक्रम मैं तीन-चार दिनों के लिए स्थगित करता हूँ। दूसरे, लगातार परिश्रम के बाद, फिर चार दिनों की हाड़तोड़ यात्रा पर निकलने के पूर्व, मुझे थोड़ी ईश्वर की उन्मुक्त वायु में साँस लेने की आवश्यकता है। ... कल मैं वनवास के लिये रवाना हो रहा हूँ। अहा ! शिकागो में घुसने के पूर्व फेफड़ों को थोड़ी ताजी हवा से तो भर लूँ ![४०]

अलामेडा, ३० अप्रैल, १९०० : सहसा बीमार पड़ जाने तथा बुखार के कारण मैं अब तक शिकागो नहीं जा सका। यात्रा के उपयुक्त सबल होते ही मैं चल पड़ूँगा।[४१]

अलामेडा, २ मई, १९०० : मैं काफी बीमार था – महीनों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप रोग का पुन: आक्रमण हुआ था। खैर, अब मुझे पता चल गया है कि मुझे हृदय या किडनी का रोग नहीं है, केवल अधिक परिश्रम के कारण स्नायु थक चुके हैं। अत: आज मैं कुछ दिन के लिए एक गाँव में जा रहा हूँ और जब तक मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो जाय, तब तक वहीं रहूँगा; आशा है ऐसा कुछ दिनों में हो जायगा।[४२]

सैन्फ्रांसिस्को, १८ मई १९०० : शिक्षा देते हुए जगह-जगह भ्रमण करना भी संन्यासी का कार्य नहीं है। संन्यासी को ऐसे शान्त तथा निर्जन स्थान में रहना चाहिये, जहाँ उसे यदा-कदा ही मनुष्य का चेहरा दिखाई दे। कम-से-कम शारीरिक दृष्टि से तो अब मैं इसके लिये पूरी तौर से तैयार हूँ – यदि मैं अवकाश न लूँ, तो प्रकृति मुझे इसके लिये मजबूर करेगी।[४३]

न्यूयार्क, १३ जून, १९०० : उद्विग्न होने की कोई जरूरत नहीं है। जैसा कि मैंने लिखा था – मैं सदा से अधिक स्वस्थ महसूस कर रहा हूँ; साथ ही किडनी सम्बन्धी सभी पुरानी शिकायतें दूर हो चुकी हैं। 'चिन्ता' ही एकमात्र रोग है; और मैं उस पर भी तेजी से विजय प्राप्त कर रहा हूँ।[४४]

न्यूयार्क, २३ जून १९०० : मैं अत्यन्त सकुशल, प्रसन्न तथा पहले जैसा ही हूँ। उत्थान के पूर्व लहरें अवश्य उठती हैं। ऐसा ही मेरे साथ भी है।... मैं समस्त भावुकता तथा आवेगों से छुटकारा पाने को कटिबद्ध हूँ; और अब यदि तुम कभी मुझे भावुक देखो, तो फाँसी पर चढ़ा देना। मैं अद्वैतवादी हूँ; हमारा लक्ष्य 'ज्ञान' है – कोई भावना नहीं, कोई ममता नहीं, क्योंकि ये सब जड़-पदार्थ, अन्धविश्वास तथा बन्धन के अन्तर्गत आते हैं। मैं केवल सत् एवं ज्ञान हूँ।...

जगदम्बा मेरी देखभाल करती हैं। वे मुझे तेजी से भावुकता के नरक से बाहर निकाल रही हैं और शुद्ध विवेक के प्रकाश में ले जा रही हैं। ... मेरे ऊपर किसी का वश नहीं, क्योंकि मैं आत्मा हूँ। मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं; यह सब जगदम्बा का काम है, इसमें मेरा कोई योग नहीं।

अनासक्ति मुझमें सदा से ही रही है। वह एक क्षण में प्रकट हुई है। अति शीघ्र ही मैं ऐसी अवस्था में पहुँच जाऊँगा, जहाँ कोई संवेदना, कोई भावुकता मुझे नहीं छू सकेगी।[४५]

न्यूयार्क, ११ जुलाई १९०० : अपने लम्बे बाल कटवा लेने के लिए हर किसी ने मेरी बड़ी आलोचना की है।... मैं डिट्राएट गया था और कल ही वापस लौटा हूँ। यथाशीघ्र फ्रांस जाने की चेष्टा कर रहा हूँ, फिर वहाँ से भारत।[४६]

न्यूयार्क, १८ जुलाई १९०० : डिट्राएट में मैं केवल

तीन दिन ठहरा । इस समय यहाँ न्यूयार्क में भीषण गर्मी है । ... काली (स्वामी अभेदानन्द) करीब एक हफ्ते पूर्व पहाड़ों पर चला गया । वह सितम्बर के पहले नहीं लौट सकता । मैं पूरी तौर से अकेला हूँ और धुलाई कर रहा हूँ, यह मुझे पसन्द है ।[४७]

न्यूयार्क, २४ जुलाई, १९०० : आगामी गुरुवार को मैं फ्रांसीसी जहाज 'ला शैम्पन' में यात्रा करने वाला हूँ ।[४८]

फ्रांस के अनुभव

यह फ्रांस ही यूरोप का कर्मक्षेत्र है । चीन के कुछ अंशों को छोड़कर इतना सुन्दर स्थान और कहीं नहीं है ।[४९]

इन पाश्चात्य लोगों के लिये स्नान का क्या अर्थ है? जो अंग बाहर दिखायी पड़ते हैं – मुँह, सिर, हाथ धोना – और क्या ! एक बार मेरे एक धनी मित्र निमंत्रण देकर सभ्यता की राजधानी, रंग-ढंग, भोग-विलास का स्वर्ग, विद्या-कला के केन्द्र पेरिस ले गये । उन्होंने मुझे एक किले के समान होटल में ठहराया । राजाओं जैसा खाना मिलता था, पर स्नान का नाम तक न था । दो दिन मैंने किसी प्रकार सहा, फिर मुझसे नहीं सहा गया । मैंने अपने मित्र से कहा, "भाई ! यह राजभोग तुम्हें ही मुबारक हो । मैं यहाँ से बाहर जाने को व्याकुल हो रहा हूँ । यह भीषण गर्मी और स्नान करने की कोई व्यवस्था ही नहीं; मेरी दशा पागल कुत्ते जैसी हो रही है ।" यह बात सुनकर मेरे मित्र बड़े दुखी हुए और होटल के कर्मचारियों पर बड़े कुपित हुए । उन्होंने कहा, "अब मैं आपको यहाँ नहीं ठहरने दूँगा, चलिये, कोई दूसरी अच्छी जगह ढूँढ़ी जाय ।" बारह प्रमुख होटल देखे गये, पर स्नान करने का प्रबन्ध नहीं था, अलग स्नान करने के स्थान थे, जहाँ चार-पाँच रुपये देकर एक बार स्नान किया जा सकता था । हरे राम, हरे राम ! उसी दिन शाम को मैंने एक अखबार में पढ़ा कि एक बुढ़िया स्नान करने के लिए हौज में बैठी और वहीं मर गयी ! असल में जीवन में प्रथम बार ही बुढ़िया के अंग का जल से स्पर्श हुआ और वह स्वर्ग सिधारी ! इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।[५०]

पेरिस, २३ अगस्त १९०० : मठ के हिसाब की पाण्डुलिपि अभी-अभी पहुँची है । पढ़कर बड़ा मजा आ रहा है । मैं इससे बड़ा प्रसन्न हूँ । मैं इसकी एक हजार या उससे भी अधिक प्रतियाँ छपवाने जा रहा हूँ, जिसका इंगलैंड, अमेरिका तथा भारत में वितरण किया जायगा । मैं इसमें केवल एक दान के लिये अपील का पैरा जोड़ दूँगा ।[५१]

पेरिस, २५ अगस्त १९०० : मैंने श्रीमती बुल को मठ से रुपये उठा लेने का मौका दिया था, किन्तु उस विषय में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा; और इधर ट्रस्ट के दस्तावेज दस्तखत के लिए पड़े हुए थे, अत: ब्रिटिश कौंसिल के दफ्तर में जाकर मैंने उन पर हस्ताक्षर कर दिये हैं । अब उन दस्तावेजों को भारत भेज दिया गया है और सम्भवत: वे अभी मार्ग में होंगे ।

अब मैं स्वाधीन हूँ, किसी बन्धन में नहीं हूँ, क्योंकि रामकृष्ण मिशन के कार्यों में अब मेरा कोई अधिकार, कर्तृत्त्व या किसी पद का उत्तरदायित्व नहीं है । मैं उसके अध्यक्ष पद को भी त्याग चुका हूँ । अब मठ आदि सारी चीजों का उत्तरदायित्व श्रीरामकृष्ण के अन्य साक्षात् शिष्यों पर है, मुझ पर नहीं । अभी ब्रह्मानन्द अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं । उनके बाद क्रमश: प्रेमानन्द आदि पर उसका उत्तरदायित्व होगा ।

अब यह सोचकर मुझे बड़े आनन्द का अनुभव हो रहा है कि मेरे मस्तक से एक भारी बोझ दूर हो गया ! मैं अब अपने को विशेष सुखी समझ रहा हूँ । लगातार बीस वर्ष तक मैंने श्रीरामकृष्ण की सेवा की – चाहे उसमें भूलें हुई हों या सफलता मिली हो – अब मैंने कार्य से छुट्टी ले ली है । अपने अवशिष्ट जीवन को अब मैं अपनी इच्छानुसार व्यतीत करूँगा ।

अब मैं किसी का प्रतिनिधि नहीं हूँ या किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ । अब तक अपने मित्रों के प्रति मेरी जो एक प्रकार से वशीभूत रहने की भावना थी, वह मानो एक दीर्घस्थायी बीमारी जैसी थी । अब पर्याप्त रूप से सोचने-विचारने के बाद मुझे यह पता चला कि मैं किसी का भी ऋणी नहीं हूँ; प्रत्युत अपने प्राणों की बाजी लगाकर मैंने अपना सब कुछ प्रदान किया है; किन्तु उसके बदले में उन लोगों ने मुझे गालियाँ दी हैं, मुझे हानि पहुँचाने की चेष्टा की है और हमेशा तंग तथा परेशान किया है । यहाँ पर या भारत में सबके साथ मेरा सम्बन्ध समाप्त हो गया है ।...

मैं तुम्हें सदा के लिए यह बता देना चाहता हूँ कि चाहे मुझमें अन्य दोष भले ही हों, परन्तु जन्म से ही मुझमें द्वेष, लोभ तथा कर्तृत्व की भावना नहीं है ।[५२]

❖ (क्रमशः) ❖
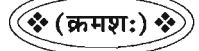
सन्दर्भ-सूची –

२६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३४१; **२७.** वही, खण्ड ७, पृ. ४०७-८; **२८.** वही, खण्ड ७, पृ. ४०९; **२९.** वही, खण्ड ७, पृ. ४१३; **३०.** वही, खण्ड ७, पृ. ४१३; **३१.** वही, खण्ड ८, पृ. ३०४; **३२.** वही, खण्ड ८, पृ. ३०३; **३३.** वही, खण्ड ८, पृ. ३०५; **३४.** वही, खण्ड ८, पृ. ३१२; **३५.** वही, खण्ड ८, पृ. ३१३; **३६.** वही, खण्ड ८, पृ. ३१४; **३७.** वही, खण्ड ८, पृ. ३१५; **३८.** वही, खण्ड ८, पृ. ३२६; **३९.** वही, खण्ड ८, पृ. ३३५; **४०.** वही, खण्ड ८, पृ. ३३६; **४१.** वही, खण्ड ८, पृ. ३३७; **४२.** वही, खण्ड ८, पृ. ३३७; **४३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १३८; **४४.** वही, खण्ड ९, पृ. ४१४; **४५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३४२; **४६.** वही, खण्ड ८, पृ. ३४४; **४७.** वही, खण्ड ८, पृ. ३४४; **४८.** वही, खण्ड ८, पृ. ३४६; **४९.** वही, खण्ड १०, पृ. ९२; **५०.** वही, खण्ड १०, पृ. ६९; **५१.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १४७; **५२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३५०-५१

धर्म-जीवन का रहस्य (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

जब रावण के साथ श्रीराम का युद्ध समाप्त हुआ, तो इन्द्र बड़े प्रसन्न हो गये और प्रभु से कहा, "महाराज, सेवा के लिये कोई आज्ञा दीजिये।" श्रीराम बोले, "ये जो सारे बन्दर युद्ध करते हुए मारे गये हैं, मैं चाहता हूँ कि ये जीवित हो जायँ। तुम अमृत की वर्षा करो और सारे बन्दरों को जीवित करो।" जिन भगवान राम ने एक दिन इन्द्र की कुत्ते से तुलना की थी, आज उसी को उपाधि देते हुए बोले – इन्द्र, तुम बड़े सुजान हो, यही सेवा करो कि जिन लोगों ने मेरे लिये प्राणत्याग किये हैं, उन्हें जीवित कर दो –

मम हित लागि तजे इन्ह प्राना ।
सकल जियाउ सुरेस सुजाना ।। ६/११३/२

पार्वतीजी ने शंकरजी से पूछा, "क्या ईश्वर अपने संकल्प से बन्दरों को जीवित नहीं कर सकता था? आज श्रीराम इन्द्र को जो सुजान कहते हैं, इसका क्या अर्थ है?" वे बोले, "प्रभु तो काल के भी काल हैं, बन्दरों को जीवित कर देने में इन्द्र की क्या विशेषता है? पर भगवान एक नर शरीर धारण करके एक उपदेश देना चाहते थे। ये देवता स्वर्ग में नित्य अमृत पीते हैं, पर प्रभु का संकेत यह था कि तुम्हारे अमृत का उद्देश्य यही था कि हम न वृद्ध हों, न मरें और मनमाने भोग करें, पर आज तुम्हारे अमृत का उपयोग यही है कि जिन्होंने अपने शरीर की चिन्ता किये बिना संघर्ष किया है, एक आदर्श के लिये अपना बलिदान किया है, आज तुम्हारा अमृत यदि इन्हें जीवन देता है, तभी उसकी सार्थकता है।

गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में बन्दरों की तुलना नाना प्रकार की मुक्ति की साधनाओं से की है –

कैवल्य-साधन अखिल भालु मरकट विपुल... । ५८/८

प्रभु कहते हैं कि अमृत जब व्यक्ति को युवा तथा नीरोग बनाकर भोगी बना देता है, तो यह उसका दुरुपयोग है; और जब अमृत पाकर हमारे जीवन में साधना चैतन्य हो जाय, साधना में प्रगति हो, तो वह बड़ा उपयोगी है। यहाँ वैसा ही हुआ।

मेघनाद के रूप में लंका का काम इन्द्र को भी बाँध लेता है, देवताओं को भी बाँध लेता है। काम के बन्धन में कौन नहीं बँधा हुआ है ! जितने भी पुण्यात्मा हैं, वे सब-के-सब काम के बन्धन में बँधे हुए हैं। काम ऐसा ही शक्तिशाली है और जब तक सृष्टि रहेगी, तब तक काम की आवश्यकता रहेगी। पर लक्ष्मण के रूप में जो अयोध्या का काम है, वही लोक-कल्याण-कारी है। लक्ष्मणजी गृहस्थ भी हैं। उनके दो पुत्र भी हुए, पर इतना सब होते हुए भी, वे निरन्तर श्रीराम के चरणों में अनुरक्त हैं, उनके अन्तःकरण में जो वृत्ति है, वह श्रीराम से एकाकार हो रही है। इसलिये लोकहित के लिये यदि काम की आवश्यकता है, तो वह काम लंका का नहीं, अयोध्या का काम होना चाहिये। इन चारों पुरुषार्थों को यदि हम उचित मात्रा में स्वीकार करें और जिस क्रम से इसको जीवन में पाना चाहिये, उसी क्रम से प्राप्त करें, तो हमारा जीवन पूर्ण होगा; और यदि हम इनका उपयोग मनमाने ढंग से करें, तो इसका परिणाम सबके लिये अहितकर होगा।

धर्म की व्याख्या बड़ी जटिल बात है। मनुष्य को धर्म की दिशा में मोड़ने के लिये एक बालक का दृष्टान्त दिया गया। उसे मिठाई का प्रलोभन देकर पढ़ने के लिये प्रेरित किया जाता है, तो धर्म मिठाई है या पढ़ाई? वस्तुतः धर्म तो पढ़ाई ही है; मिठाई तो पढ़ाई की दिशा में ले जाने का एक माध्यम मात्र है। शास्त्रों ने क्या किया है? यदि वे व्यक्ति से सीधे कह दें कि तुम सब कुछ छोड़ो, धन का परित्याग कर दो, काम का परित्याग कर दो; तो केवल कुछ लोगों के लिये ही यह सम्भव है। ऐसे लोग जिनमें पिछले जन्मों से इसके संस्कार हैं, जो इस दिशा में अभिमुख हैं, वे सहज रूप से निवृत्ति के मार्ग की दिशा में जाते हैं और धन्य हो जाते हैं।

परन्तु सभी व्यक्ति ऐसे नहीं हो सकते। उन्हें धीरे-धीरे इस दिशा में मोड़ना होगा। शास्त्र उन्हें मोड़ने के लिये उनके सामने कुछ प्रलोभन रखते हैं। सारी वस्तुओं को एक साथ छोड़ने के लिये न कहकर, वह क्रम से उन्हें कैसे छोड़ें, यह बताते हैं और छोड़ने के लाभ भी उन्हें बताते हैं।

हनुमानजी जब रावण के पास गये, तो उन्होंने रावण को अभिमान छोड़ने के लिये जो उपदेश दिया, तो उसके साथ एक विशेष शब्द भी जोड़ दिया। बोले – रावण, सारे मानसिक रोगों का मूल तो मोह है और यदि तुम मोह को नष्ट करना चाहते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम भक्ति की दवा का सेवन करो। पर दवा के साथ-साथ रोगी यदि पथ्य

न करे, तो रोग दूर नहीं होगा। तो पथ्य मैं तुम्हें इतना ही बताये देता हूँ – तुम तमोगुणी अभिमान को छोड़ दो –

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान ।। ५/२३

हनुमानजी कितने उदार वैद्य हैं! कहना तो चाहिये कि तुम अभिमान को छोड़ दो, पर बोले – केवल तमोगुणी अभिमान को छोड़ दो। वे जानते हैं कि रावण की स्थिति ऐसी नहीं है कि वह पूरे अभिमान को छोड़ सके, अत: वे विभाजन कर देते हैं – मैं तुमसे सतोगुणी अभिमान को छोड़ने के लिये नहीं कहता, रजोगुणी अभिमान भी बना रहने दो, परन्तु कम-से-कम तमोगुणी अभिमान तो छोड़ दो। इसका अभिप्राय सतोगुणी या रजोगुणी अभिमान की श्रेष्ठता सिद्ध करना नहीं है। जैसे कोई रोगी बहुत पथ्य न कर सके, तो उसे थोड़ा पथ्य बता देते हैं। मुझे तो एक डॉक्टर ने बड़े विनोदपूर्वक कहा – आप तो जानते ही हैं कि हम लोग रोगियों को कैसे पथ्य बताया करते हैं, पर हम लोगों की स्थिति देखनी हो, तो जब हमारी पार्टियाँ होती हैं, तब देखिये कि डॉक्टर लोग कितनी उदारता से भोजन पर टूटते हैं! तब तो लगता है कि सारा पथ्य केवल रोगियों के लिये होता है, डॉक्टर के लिये नहीं होता। डॉक्टर लोग बुरा न मानें, सबकी एक ही बात है चाहे उपदेशक हो, या चिकित्सक।

हनुमानजी उदारता दिखाते हुए कहते हैं – ठीक है, बहुत पथ्य हम क्यों कहें, यदि इतना कठिन पथ्य बता दिया जाय को सम्भव है कि रोगी कभी पथ्य ही न करे। उत्तम वैद्य मानसिक बात समझता है कि इसे कितना बताना चाहिये, यह कितना कर सकेगा! जो सूची पकड़ा देने वाले डॉक्टर हैं, वे अपने लिये बिल्कुल भिन्न नीति बनाये हुए हैं। उनकी बात रोगी बिल्कुल मान ही नहीं सकता। अत: हनुमानजी बड़े सावधान हैं। उन्होंने रावण से यह नहीं कहा कि राज्य छोड़ दो, सम्पत्ति छोड़ दो, बल्कि उल्टे लोभ दिखा दिया – जानते हो, मेरी दवा खाओगे तो क्या होगा? राम के चरणों की भक्ति? बिल्कुल नहीं। यह भी नहीं कहा कि तुमको मोक्ष मिल जायगा। बोले – भगवान राम के चरणों को यदि हृदय में धारण करोगे तो लंका का राज्य अचल हो जायगा –

राम चरन पंकज उर धरहू ।
लंका अचल राज तुम्ह करहू ।। ५/२२/१

कैसे कह दें – तुम लंका का राज्य छोड़ दो? मन्दोदरी ने कहकर देख लिया था। उसने कर्तव्य की याद दिलायी थी – शास्त्रों ने लिखा है कि चौथेपन में राजा वन में चला जाय –

चौथेपन जाइहि नृप कानन ।। ६/६/३

उधर रावण को क्रोध आ रहा है कि पिछले जनम से ही तो इस बूढ़ा होने से डर रहा हूँ और तुम मुझे बूढ़ा बनाकर वन में भेजना चाहती हो! तो हनुमानजी ने वन जाने का उपदेश नहीं दिया, राज्य छोड़ने को भी नहीं कहा। वे बोले – बस, तुम इतना ही करो – तमोगुणी अभिमान छोड़ दो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा राज्य अचल रहेगा।

इतने उदार वैद्य के सामने भी रावण उस महा अभिमानी रोगी की तरह है कि जब डॉक्टर यह कहे कि यह नहीं खाना चाहिये, तो वह कहे कि डॉक्टर मेरे सामने क्या है? इससे अधिक बुद्धिमान तो मैं हूँ। कहीं वे डॉक्टर बैठे हुए हों और उनके सामने ही घरवालों से खाने के लिये वही वस्तु मँगावे, जो डॉक्टर ने मना किया हो, तो सोचिये डॉक्टर का क्या हाल होगा! रोगी से यह कहा गया है कि यह छोड़ दो और रोगी उसी वस्तु का डॉक्टर के सामने ही सेवन करे और कहे कि देखो, मुझे शिक्षा दे रहे हो? मैं तुम्हारे सामने खाकर दिखाता हूँ। गोस्वामीजी ने व्यंग किया। हनुमानजी ने जब कहा कि तमोगुणी अभिमान छोड़ दो, तो रावण ने क्या किया? बोला – तुम अभिमान छोड़ने के लिये कह रहे हो; अरे, मैं तो और भी बड़ा महा-अभिमानी बनकर दिखाता हूँ –

बोला बिहसि महा अभिमानी ।
मिला हमहि कपि गुरु बड़ ग्यानी ।। ६/२३/२

ऐसी स्थिति में चिकित्सक बता देते हैं कि रोग बड़ा कठिन है, रोगी की शायद थोड़ी देर में मृत्यु हो जाय, पर यह तो ऐसा रोगी था, जिसने उल्टे वैद्य से ही कहा – अब तू मरने ही वाला है –

मृत्यु निकट आई खल तोही ।। ६/२३/२-३

हनुमानजी समझ गये कि उन्हें ऐसा रोगी तो आज तक मिला ही नहीं। यदि कोई रोगी डॉक्टर से ही कहने लगे कि अब तुम मरने ही वाले हो, तो सोचिये, वह कैसा रोगी होगा! हनुमानजी समझ गये कि इसका रोग असाध्य है। वे बोले – तुम मृत्यु का नाम ले रहे हो, तो ठीक ही होगा, मैं भी देख रहा हूँ कि मृत्यु आ पहुँची है, पर यह मेरे लिये आई है कि तुम्हारे लिये? इसका पता तो कुछ दिनों बाद चलेगा।

उलटा होइहि कह हनुमाना ।। ६/२३/४

यही शास्त्रों की शैली है। हनुमानजी ने रावण से केवल तमोगुणी अभिमान त्यागने के लिये कहा, वैसे ही शास्त्रों ने व्यक्ति को जो प्रलोभन दिया, उसका कारण यह है। वे जानते हैं कि यदि व्यक्ति को सीधे ऐसा बनने के लिये कह दिया जाय, जो उसके लिये सम्भव नहीं है, तो व्यक्ति कह देगा कि यह सब हमसे होने वाला नहीं है, छोड़ो इस चक्कर को। इसीलिये शास्त्रों ने ऐसी शैली अपनायी। उन्होंने दो कार्य किये। व्यक्ति को कभी-कभी लोभ भी दिखा दिया और उस भोग के साथ-साथ क्रमश: उन्होंने उसको विकसित करने के लिये धर्म की व्याख्याओं के द्वारा उसे कक्षावार आगे ले जाते हैं, वैसे ही जैसे कक्षा में कोई पढ़ता है और धीरे-धीरे 'क' माने कबूतर से प्रारम्भ करके वह अन्तिम कक्षा तक पहुँचकर 'क' माने ब्रह्म तक पहुँच सकता है। यही शास्त्रों

की शैली है। यदि व्यक्ति में भोगों के प्रति आकर्षण है, तो शास्त्र पहले भोग की आज्ञा दे देते हैं, परन्तु उसमें थोड़ा-सा नियमन कर देते हैं – ठीक है, भोग तो जीवन में आवश्यक ही है, लेकिन कम-से-कम भोगों में भी विभाजन करना चाहिये। किस तरह का भोग उचित है, किस तरह का भोग अनुचित है। तो वह धीरे-धीरे क्रमशः सारी वृत्तियों को नियमन करने के लिये, अनेक प्रलोभन भी दिये और धीरे-धीरे अपनी बात को आगे बढ़ाया, पर यदि वह पढ़ने वाला छात्र, यह सुनकर कि पढ़ोगे तो तुम्हें मिठाई मिलेगी, यह सोचने लगे कि वह मिठाई ही परम फल है और यहीं मिल सकती है, तो फिर क्यों पढ़ाई के चक्कर में पड़े, तो क्या होगा?

तात्पर्य यह कि प्रलोभन धर्म नहीं है। अगर व्यक्ति उलट देगा, तो धर्म के साथ यही होगा। धर्म ने यदि कह दिया कि धर्म करोगे तो देवता बनोगे और अप्सराएँ मिलेंगी; तो व्यक्ति की बुद्धि ऐसी होती है कि धर्म के बाद देवता बनकर भोग ही भोगना है, तो यदि यहीं अप्सराएँ मिल जाय, तो धर्म-कर्म करने की क्या जरूरत? फल यह होता है कि धर्म एक दुधारी तलवार हो जाती है। इसका जैसा प्रयोग किया जाना चाहिये, उसका उल्टा हो जाता है। इससे प्रलोभन ही धर्म बन गया और उद्देश्य बेचारा एक ओर धरा रह जाता है। धर्म के साथ सबसे बड़ी कठिनाई, सबसे बड़ी समस्या यही है कि यदि व्यक्ति ने यह मान लिया कि धर्म करने से सम्पत्ति बढ़ती है, पता चले कि सत्य बोलने से सम्पत्ति बढ़ती है, तो वह भी एक उपाय हो सकता है। यदि किसी दुकानदार पर लोगों की यह आस्था हो जाय कि यह सही-सही दाम बताता है, तो शायद ग्राहक विश्वासपूर्वक उनकी दुकान में अधिक संख्या में आते हैं और इससे उसे अधिक लाभ होता है और उसकी सम्पत्ति बढ़ती है। पर यदि सम्पत्ति बढ़ना ही धर्म का फल मान लिया और व्यक्ति को कहीं लगे कि सच बोलकर हम बीस साल में जितना कमायेंगे, आज मौका मिला है कि एक बार झूठ बोलकर उससे दुगना कमा सकते हैं, तो उसे लगेगा – तो फिर सत्य या धर्म की क्या जरूरत है!

अतः प्रलोभन के साथ यही सबसे बड़ी समस्या है कि यदि जीवन का प्रलोभन ही उद्देश्य हो गया, तो परिणाम यह होता है कि व्यक्ति जब सोचता है, तो केवल प्रलोभन को ही लक्ष्य मानकर धर्म से विचलित हो जाता है। अतः धर्म के साथ समस्या यह है कि हम इसे सही अर्थों में समझें।

पुराने समय के गंगाप्रसाद नाम के एक विद्वान् थे, उनके ग्रन्थ में गीता (२/४२) की किसी उक्ति के आधार पर कहा गया था कि श्रीकृष्ण वेदों के विरोधी थे। यदि उन्होंने ध्यान दिया होता कि भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दोनों तरह से लाभ दिखाते हुए कहा था – यदि तुम युद्ध में जीत गये, तो राज्य भोगने को मिलेगा और यदि मारे गये तो स्वर्ग –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।।२/३७

भगवान की भाषा बिल्कुल साधारण व्यवहारी व्यक्ति की भाषा है; सिद्धान्त-वाक्य नहीं है, बल्कि मानो यह पहली कक्षा की भाषा है। गीता एक बड़ा विलक्षण ग्रन्थ है। यह मानो अर्जुन को माध्यम बनाकर सबके लिये कही गयी है। इसमें भगवान हर विकल्प सामने रख देते हैं। भगवान कह देते हैं कि आत्मा तो अमर है, तुम चिन्ता मत करना, पर साथ ही यह भी कह देते हैं कि यदि तुम मानते हो कि जन्म-मरण सत्य है, तो भी चिन्ता मत करो। वस्तुतः भगवान का उद्देश्य यह है कि अर्जुन को धीरे-धीरे कैसे मोड़ा जाय? भगवान कृष्ण विषयक एक कविता मैंने पढ़ी थी। उसमें कवि ने लिखा था कि भगवान शान्ति के ऐसे विरोधी हैं कि लोगों को तर्क-वितर्क के द्वारा युद्ध के लिये प्रेरित कर देते हैं। यह कुछ ऐसा ही था, जैसा कि दूरदर्शन के 'महाभारत' में कुछ इसी तरह की बात धृतराष्ट्र के मुँह से कहलवा दी गयी थी कि 'यह कृष्ण अर्जुन को समझा रहा है या युद्ध के लिये भड़का रहा है?' तो क्या भगवान शान्ति के विरोधी हैं? क्या वे युद्ध को उद्देश्य मानते हैं? यदि आप उस एक ही श्लोक को पकड़ लें, तो आपको लगेगा कि भगवान तो भोग और स्वर्ग का उपदेश दे रहे हैं।

परन्तु इससे यह समझा जा सकता है कि न आपने पूरी गीता पढ़ी है और न इसके उपदेशों को सही अर्थों में लिया है। भगवान कह रहे हैं कि यहीं से तुम प्रारम्भ करो। तुम्हें युद्ध करना चाहिये। आप जानते हैं कि भगवान स्वयं शान्तिदूत बनकर गये और इतना आगे बढ़ गये थे कि दुर्योधन से बोले कि तुम केवल पाँच ही गाँव दे दो। तो किसी वाक्य के द्वारा यह नहीं सिद्ध होता कि वे युद्धप्रिय थे। उन्होंने तो शान्ति के लिये अदम्य प्रयास किया, पर यदि युद्ध सामने है और अर्जुन उससे भागता है, तो भगवान कहते हैं कि तुम इसके परिणाम पर भी दृष्टि डालो और तब वे विविध रूपों में अर्जुन को जो उपदेश देते हैं, वह गीता की उन पंक्तियों में है, जिसमें स्वर्ग और भोग का भी वर्णन है और आगे चलकर जब भगवान वेदों की थोड़ी आलोचना करते हुए दिखाई देते हैं और कहते हैं कि वेद से भी ऊपर उठने की जरूरत है, क्योंकि वेद बार-बार व्यक्ति को भोग-ऐश्वर्य या स्वर्ग का प्रलोभन देते हैं और व्यक्ति उन्हीं में उलझकर रह जाता है –

क्रिया-विशेष-बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।
त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।।२/४३,४५

भगवान का अभिप्राय यह है कि अुर्जन, तुम नीचे ही मत बैठे रहो, तुम्हें इनसे ऊपर उठना है। यह नीचे से ऊपर उठना क्या है? विद्यार्थी को पहली कक्षा में जरूर पढ़ना

चाहिये, यह परम आवश्यक है। पर यदि कोई पहली कक्षा को नींव मानकर दस वर्षों तक उसी में रह जाय और कहे कि मैं तो नींव को दृढ़ बना रहा हूँ, तो वह आजीवन वहीं-का-वहीं रह जायगा। इसी प्रकार धर्म की इस शैली में आप देखेंगे कि यह हमें सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर चढ़ा रहा है।

पहली सीढ़ी पर ही बैठे रहना राजा प्रतापभानु की समस्या है और महाराज मनु बड़ी दूर तक चले जाते हैं। मनु ने देखा कि पत्नी है, पुत्र हैं, राज्य है, सब ठीक है; और मैंने तो इन सबको भोग ही लिया, पर यही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। इनसे यही सिद्ध हुआ कि भोगों को भोगने के बाद भी तृप्ति नहीं हुई। अभी सही अर्थों में धर्म का फल मेरे जीवन में नहीं आया। तो यहाँ संकेत क्या है? ईश्वर ने वृद्धावस्था के साथ एक बात जोड़ दी है। आप देखेंगे कि वृद्धावस्था में प्राय: भूख कम हो जाती है। इसमें ईश्वर का मानो यह सन्देश है – अब जरा कम खाओ। वह शरीर के द्वारा सन्देश दे रहा है कि धीरे-धीरे भोगों को कम करो। युवावस्था में तुम जो कर सकते थे, वह वृद्धावस्था में नहीं कर सकते।

इस सन्देश को सुनकर यदि आप यह निर्णय करें कि ईश्वर का संकेत बस इतना ही है कि भोजन अब थोड़ा कम कर दें। पर इतना ही नहीं, कान से अब कम सुनाई देने लगा, तो मानो ईश्वर का संकेत यह है कि जीवन भर खूब बाहर की बातें सुनते रहे, अब भीतर भी कुछ सुनने की चेष्टा करो। जब ईश्वर ने ऐसी आँखें दीं, जिनसे वृद्धावस्था में कम दिखाई देता है, तो मानो वह चाहता है कि अब अन्दर की ओर देखने का प्रयास करो। यह नरदेह व्यक्ति को साधना की ओर, परमात्मा की ओर ले जाता है। भगवान कहते हैं – मनुष्य-शरीर साधना का धाम और मोक्ष का द्वार है –

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।। ७/४२/८

बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। जनकपुर के दूत अयोध्या गये, तो महाराज दशरथ ने पूछा – आप लोग केवल पत्र लेकर ही चले आये या आपने जनकपुर में मेरे पुत्रों को देखा भी है? दूत मुस्कुराते हुए चुप रह गये। इस पर महाराज ने पूछा – अच्छा, यदि देखा तो अपनी आँख से देखा या नहीं? और हँसी आई, अब देखें आगे क्या कहते हैं? फिर बोले – अपनी आँख से देखा तो ठीक से देखा या नहीं? –

भैआ कहहु कुसल दोउ बारे ।
तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ।। १/२९०/३

चौपाई में ठीक ये ही शब्द हैं – तुमने ठीक प्रकार से, अपनी आँखों से देखा या नहीं। वह एक बड़ा ही मधुर प्रसंग है, बड़ा विस्तृत है, पर दूतों ने जो उत्तर दिया, वह बड़ा सुन्दर है। वे बोले – महाराज, आपके पुत्रों को हमने देखा है, अपनी आँखों से और भलीभाँति देखा है। दशरथजी ने पूछा – हम कैसे मान लें? वे बोले – बस, इससे मान लीजिये कि जबसे हमने आपके पुत्रों को देखा है, तबसे दिखाई देना ही बन्द हो गया –

देव देखि तव बालक दोऊ ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ ।। १/२९२/५

ईश्वर को देखने के बाद अब देखने के लिये क्या बचा? ईश्वर जब दिखाई देगा, तो या तो बाहर दिखाई देना बन्द हो जायगा अथवा सबमें वही दिखाई देगा। दो को छोड़कर कोई तीसरा विकल्प नहीं हो सकता। तो वृद्धावस्था मानो सावधान कर रही है कि अब इस दृष्टि का उपयोग अन्य कुछ देखने के लिये नहीं हो सकता है; कान कहते हैं कि अन्य कोई शब्द सुनने के लिये मेरी आवश्यकता नहीं है; पूरा शरीर कहता है कि हम अधिक-से-अधिक भोगों को भोग चुके, अब धीरे-धीरे त्याग की दिशा में बढ़ना है।

महाराज मनु जैसा कोई-कोई इस संकेत को समझ लेता है। उन्होंने कहा – भले ही मुझमें वैराग्य नहीं आया, पर त्याग हम करेंगे। वैराग्य अर्थात् किसी वस्तु का मन से छूट जाना, आकर्षण ही न होना। और त्याग अर्थात् भले ही वह मन से प्रिय लगती हो, लेकिन यदि हम विवेकपूर्वक किसी वस्तु को छोड़ देते हैं। मनु ने निर्णय किया – भले ही मन में वैराग्य का उदय न हुआ हो, पर हम त्याग के द्वारा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। अब हम वृद्ध हो गये, अब हमें उसी दिशा में चलना चाहिये।

गोस्वामीजी के जीवन में भी वह प्रसिद्ध दोहा है। उन्होंने बड़ी लम्बी आयु पाई। वे वृद्ध हुए, तो उन्हें भी कान से कम सुनाई देने लगा, आँखों से कम दिखाई देने लगा। शिष्य लोग तो स्नेह करते हैं। वे बोले – महाराज आप अधिक-से-अधिक दिन रहेंगे, तो हमारे ऊपर बड़ी कृपा होगी। आप कोई औषधि लीजिये। तो गोस्वामीजी ने एक दोहे के द्वारा कहा – हाँ-हाँ, मैं भी इसी चिन्ता में हूँ कि कोई योग्य वैद्य मिल जाय, तो दवा लें। शिष्यगण उत्साहित हुए। आपका नाम सुनकर वह वैद्य दौड़ा आवेगा। आप आज्ञा तो दीजिये, किस वैद्य को लायें। वे बोले – मुझे ऐसा वैद्य चाहिये, जो आकर मेरी जाँच करे। – क्या जाँच करे? उन्होंने कहा – 'श्रवन घटहु' – सुनाई देना कम हो, तो हो जाय; दिखना कम हो, तो हो जाय; देह का बल घटे, तो हो जाय; इनकी दवा मुझे नहीं चाहिये। – तो फिर क्या चाहिये? बोले – देखें कि कहीं हमारा भगवान से प्रेम तो नहीं घट रहा है –

स्रवन घटहु पुनि दृग घटहु, घटहु सकल बल देह ।
इते घटै घटिहै न कछु घटै न हरि सो नेह ।। दोहा. ५६३

यदि ऐसा कोई वैद्य या दवा हो, जो भगवान से प्रेम बढ़ा सके, उसे मेरे लिये ढूँढ़कर ले आओ। वृद्ध मनु ने अपने

जीवन में शरीर के उपदेश को समझ लिया और वे वन में गये। वहाँ वे अपने कानों को, अपने नेत्रों को सार्थक बनाते हैं। अब तक उन्होंने जिन कानों से संसार का स्वर सुना था, उन्हीं में ईश्वर के कृपा-अमृत से सना हुआ स्वर गूँज उठा – माँगो, माँगो, क्या वरदान चाहते हो –

मागु मागु बरु भै नभ बानी ।
परम गभीर कृपामृत सानी ।। १/१४५/६

आकाशवाणी में पूछा गया – क्या चाहते हो? तो उन्होंने कहा – कान तो धन्य हो गये, अब नेत्र भी धन्य हों – ऐसी कृपा कीजिए कि मैं उस रूप को नेत्र भरकर देखूँ –

जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।। ...
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।। १/१४६/४, ६

सचमुच कान ईश्वर की वाणी सुनकर धन्य हो गये। नेत्र भगवान का दर्शन करके धन्य हो गये। भगवान ने पूछा – क्या और कुछ चाहते हैं? माँग तो प्रतापभानु भी करता है, पर यहाँ तो देनेवाला स्वयं ईश्वर है। कई बार लेनेवाले ठीक नहीं होते, तो कई बार देनेवाले; पर यहाँ तो ईश्वर ही देने को प्रस्तुत हैं और लेनेवाले मनु हैं, जिन्होंने संसार के सारे विषयों को छोड़ दिया है, वे माँगने के लिये प्रस्तुत हैं।

मनु ने बड़ी मीठी बात कही। बोले – महाराज, मेरी एक बड़ी समस्या है। – क्या? बोले – धर्म का फल है वैराग्य और वैराग्य का फल है मोक्ष। तो महाराज, मुझमें वैराग्य तो है नहीं। मैं तो आज भी अनुरागी ही हूँ। तो जब वैराग्य नहीं है, तो मैं आपसे मोक्ष नहीं माँगूँगा। – क्या माँगोगे? मनु ने मुस्कराकर कहा – महाराज, सुना है कि वैराग्य में मोक्ष है और अनुराग में बन्धन है। तो मैंने यही सोचा कि वैराग्य नहीं है, तो अनुराग से आपको ही बेटा बनाकर बाँध लें, यही अच्छा रहेगा। प्रभु मुस्कराये – वाह, तुम तो बड़े चतुर निकले! चाहते हो कि मेरा भी जन्म हो और तुम्हारा भी। और मोक्ष का अर्थ है आवागमन से मुक्ति। मनु ने कहा – यह अधिकार मुझे नहीं है कि मैं आवागमन से मुक्ति चाहूँ, पर इतना जोड़ देता हूँ कि मेरा फिर आवागमन हो, पर आप भी आ जाइये। नेत्र और कान तो धन्य हो गये, जरा मेरी गोदी धन्य हो जाय, सारी इन्द्रियाँ भी धन्य हो जायँ।

इस प्रकार मनु सही दिशा में बढ़े और दशरथ बन गये। और प्रतापभानु कैसे दशमुख बन गया? विश्वविजय करना क्षत्रिय का धर्म है, पर शास्त्र ने तो जान-बूझकर युद्ध को यज्ञ के साथ जोड़ दिया। अश्वमेध यज्ञ करना है, उसके लिये विश्वविजय करना होगा। हम हर कर्म को यज्ञ से जोड़ें। इसके पीछे शास्त्र का उद्देश्य यही है कि यदि व्यक्ति अहंकार से प्ररित होकर विजय प्राप्त करेगा, तो उसकी वह वृत्ति नहीं मिटती; जिनमें पुरुषार्थ है, पराक्रम है, जो विजेता बनना चाहता है, शास्त्र ने एक प्रलोभन दिया – यज्ञभाव से करो।

प्रतापभानु ने यज्ञ किये, सारे राजाओं को जीत भी लिया, संसार का राजा हो गया, किन्तु वह विंध्याचल के गम्भीर वन में शिकार खेलने गया और उसी में भटक गया।

विंध्याचल का नाम लेने की क्या आवश्यकता थी? विंध्याचल महत्त्वाकांक्षा और अभिमान का प्रतीक है। विंध्याचल ने जब सुना कि सूर्य सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करता है, तो उसने सूर्य से कहा – तुम मेरी परिक्रमा करो। सूर्य ने कहा, ''यह सम्भव नहीं है। मैं अपनी स्वतंत्रता से परिक्रमा नहीं करता।'' विंध्याचल बोला, ''यदि तुम मेरी परिक्रमा नहीं करोगे, तो मैं इतना ऊपर उठूँगा कि तुम्हारा प्रकाश संसार में आने नहीं दूँगा।'' यह बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है। महत्त्वांकाक्षी व्यक्ति चाहता है कि प्रकाशपुंज मेरे ही चारों ओर हो। प्रकाश का प्रेमी होना बुरा नहीं है, पर महत्त्वाकांक्षा का अतिरेक तब है, जब वह कहता है कि प्रकाश मेरे ही चारों ओर होगा, अन्यथा मैं संसार को अँधेरे में डाल दूँगा। प्रतापभानु इतना सब पाने के बाद भी महत्त्वाकांक्षा के वन में भटक गया। असीम महात्वाकांक्षा! वह शिकार खेलकर लौट रहा था। दिन भर सफल था, पर एक सूअर दिखाई पड़ा, जिसका शरीर काला और दाँत सफेद – एक उपमा देते हुए गोस्वामीजी अपनी दार्शनिक भाषा में कहते हैं – सूअर को देखकर लग रहा था मानो राहु चन्द्रमा को ग्रस करके चला जा रहा हो –

जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ।। १/१५५/५

इसे कौन देख रहा है? प्रतापभानु। ग्रहण केवल चन्द्रमा पर ही नहीं, सूर्य पर भी लगता है। संकेत था कि महत्त्वाकांक्षा के वन में ग्रहण केवल चन्द्रमा पर ही नहीं, तुम पर भी लगने वाला है, सावधान हो जाओ। पर वह सूअर भागा, मानो जब व्यक्ति लोभ की दिशा में बढ़ता है, तो धर्म उसे सही दिशा में नहीं ले जाता। क्रिया के रूप में धर्म करते हुए भी व्यक्ति यदि दम्भ का आश्रय लेगा और लोभ के पीछे अन्धाधुन्ध भागेगा, तो वह निशाचर हो जायगा और उसकी महत्त्वाकांक्षा भी पूरी नहीं होगी। रावण के रूप में निशाचर होकर भी उस की महत्त्वाकांक्षा बढ़ती ही गयी। वह सोने की लंका का स्वामी हो गया, समस्त ऐश्वर्य प्राप्त हो गये, पर वह सदा अभावग्रस्त ही रहा। न दम्भ छूटा, न कामना छूटी, न चोरी छूटी और न लम्पटता छूटी।

ऐसे ये दो पात्र हैं। यदि हम मनु के समान जीवन में धर्म का आचरण करते हुए त्याग-वैराग्य के द्वारा ईश्वर को पाना चाहते हैं, तो दशरथ बन जाते हैं; और जब धर्म की क्रिया के साथ दम्भ की वृत्ति आती है, तो हम दशमुख रावण बन जाते हैं। चुनना तो हमारे अपने हाथ में है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-निर्माता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य सामान्यत: भाग्यवादी होता है। 'भाग्य' शब्द से ऐसा कुछ ध्वनित होता है, जिस पर मनुष्य का बस न चलता हो, जो उसके जीवन का ऐसा तत्त्व हो, जो बाहर से उस पर लादा गया हो। पर वह भाग्य नहीं है। भाग्य का असल तात्पर्य है प्रारब्ध; और यह प्रारब्ध हमारे स्वयं का बनाया होता है। अतएव अपने भाग्य का निर्माण हम स्वयं करते हैं, इसके लिए अन्य कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं होता।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''साधारणत: मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है।'' पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक वह वस्तु है क्या और कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं, और यदि हमारा भाग्य अच्छा हो, तो भी दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन-जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है?

अतएव भाग्य और कुछ नहीं, बल्कि पूर्वजन्म में हमारे द्वारा किये गये कर्मों का ही फल है। और जब यह मान लिया जाय कि हमारे जीवन में आने वाले कष्ट हमारे अपने की कर्मों के फल हैं, तो यह भी स्वयंसिद्ध हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता।

इसलिए स्वामी विवेकानन्द हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं, ''अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति' – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य (संस्कार के रूप में) संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे बुरे विचार और बुरे कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे भले विचार और भले कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।''

यह एक विडम्बना है कि मनुष्य को जब सफलता मिलती है, तब वह भाग्य की बात नहीं करता, पर जब वह असफलता का शिकार होता है, तब भाग्य की बातें करने लगता है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यही है कि सफलता में उसे अपना पुरुषार्थ दिखाई देता है, पर असफलता का दोष वह अपने पुरुषार्थ की कमी में नहीं देखता। असफल व्यक्ति में भाग्यवादी बनने की प्रवृत्ति होती है और वह अकर्मण्यता की ओर जाने लगता है। स्वामी विवेकानन्द असफलता को भी सकारात्मक मानते हैं, कहते हैं, ''असफलताओं से निराश न होओ ! उनके बिना जीवन भला क्या होता ! असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्तकाल हमारे सम्मुख है – फिर हम हताश क्यों हों ! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती – वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिए हमें सदैव क्रियाशील – प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। गाय कभी झूठ नहीं बोलती, पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो, कुछ-न-कुछ करते रहो।''

स्वामीजी पुरुषार्थ के ऐसे पक्षधर हैं कि एक स्थान पर कहते हैं, ''मुझे विश्वास है कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर दे सकता है, जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, पर वह उसे क्षमा नहीं करेगा, जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किये बिना ही विश्वास कर लेता है।''

तात्पर्य यह है कि हमारे अपने कर्म ही उस शक्ति का निर्माण करते हैं, जिसे 'भाग्य' के नाम से पुकारा गया है, अतएव अपने भाग्य को बनाने या बिगाड़ने का सारा उत्तरदायित्व हमारा अपना है। ❑❑❑

सारगाछी की स्मृतियाँ (२०)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२४.४.१९६०

स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज ने वार्तालाप के दौरान कहा – "श्रद्धा एक शब्द है। श्रद्धा नचिकेता में थी। श्रद्धा का अर्थ है – जो मैं ठीक समझा हूँ, वह मैं करूँगा ही करूँगा और उसे करने में जो शक्ति तथा आत्म-विश्वास की आवश्यकता है, वह मुझमें है। ईश्वर की कृपा के ऊपर आश्रित होकर वह पड़ा नहीं रहता है। निष्ठा की बहुत आवश्यकता है। मुसलमान और वैष्णव-सम्प्रदाय बहुत कट्टर होते हैं, यह भी एक प्रकार की निष्ठा है। वर्तमान युग में निष्ठा अन्दर-अन्दर रहेगी, किन्तु भाव बहुत पक्का होगा।

२५-४-१९६०

बहरमपुर के कुछ भक्तों ने अभी-अभी दीक्षा ली है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ भक्त हैं। वे सभी लोग मिलकर अपने गुरूदेव की जन्म-तिथि मनाने की इच्छा प्रकट कर रहे हैं।

महाराज – गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द जी) इसके कट्टर विरोधी थे। संन्यासी ने अपने माता-पिता का पिण्ड-दान कर अपना भी पिण्ड-दान कर दिया है, फिर उनकी जन्म-तिथि क्यों? कुछ दिन बाद से तो वैष्णव लोगों के जैसे ३६५ दिन ही महोत्सव करना होगा। केवल हुल्लड़, धूम-धमाका, भक्तों के साथ मिलना-जुलना और प्रसाद-खाना। राम ! राम !

ध्यान का प्रसंग उठा। एक व्यक्ति कह रहा है – "शिशु-अवस्था से ही स्वामीजी का क्या वैराग्य है।" तभी तुरन्त प्रेमेश महाराज जी ने पूछा – "तुम स्वामीजी का वैराग्य कहाँ देखे हो?

सेवक – क्यों उनमें बचपन से ही तो त्याग का लक्षण देखा जाता है।

महाराज – वैराग्य उन लोगों का ही होता है, जिन लोगों की किसी में आसक्ति होती है। स्वामीजी की सारे जीवन में किसी भी विषय में आसक्ति नहीं थी। ईश्वर-प्रेम ही उनकी स्वाभाविक सत्ता थी। मेरी युवावस्था में एक बार ठाकुरजी का ध्यान करने पर स्वामीजी का मुख-मंडल प्रतिभासित होने लगता था। इसलिये कुछ दिन तक ध्यान करते समय स्वामीजी के चित्र को हटा कर रखना पड़ा था।

सेवक – श्रीमाँ भक्तों को किस प्रकार की दीक्षा दी थीं – दो गाँठ पुआल लेकर बैठने के लिये कहकर उसके बाद वे दीक्षा दी हैं। ऐसी दीक्षा तो ठाकुर ने भी नहीं दिया।

महाराज – नहीं, वे दोनों तो एक ही हैं। इसके अतिरिक्त ठाकुर जी के कृपा-कटाक्ष मात्र से ही दीक्षा हो जाती थी। उनकी कृपा असीम है। श्रीमाँ की कृपा और ठाकुरजी की कृपा दोनों के भाव अलग-अलग हैं। ठाकुर जी मानो उनके द्वारा कार्य कर रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द जी से लेकर मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत के लेखक श्री महेन्द्रनाथ सरकार) तक सभी ने अप्रत्यक्ष रूप से उनका होकर ही कार्य किया है। माँ का ऐसा विशेष माध्यम था, मैं तो नहीं देखता। इसके अतिरिक्त ठाकुर जी की कैसी अद्भुत-आध्यात्मिक शक्ति थी ! स्वामीजी ने कहा है – मनुष्य के मन को ऐसे मिट्टी के लोंदे के समान कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बना सका। ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग, इन चारों के रहने पर मनुष्य क्या बन जाता है, उसे समझने के लिये ठाकुर जी की ओर देखो। ये चारों योग समान हैं। श्रीकृष्ण के समय मानव अभ्युदय – उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा है। उसके बाद भगवान बुद्ध के काल से मोक्ष। इसके बाद श्रीशंकराचार्य, श्रीचैतन्यदेव और श्रीरामकृष्ण हैं। ठाकुर जी कैसे पुरुषार्थी, कर्मठ थे ! प्रचार के लिये लोगों के घर-घर में भ्रमण कर रहे हैं। एक व्यक्ति के जम्हाई लेकर 'हरि बोल' बोलने के साथ-साथ ही वे एकदम निर्विकल्प समाधि में चले जाते थे। जो नरेन, नरेन, कहते हुए पागल हो जाते थे, वे ही आवश्यकता पड़ने पर नरेन से भी बिल्कुल मन को उठा लेते थे। वे कभी कह रहे हैं – "साला, तुम पुनः यहाँ मत आना।" कैसे जितेन्द्रिय थे ! एक ओर तो वे संन्यासी हैं, फिर दूसरी ओर केवल स्त्री ही नहीं युवती स्त्री को साथ में लेकर, रात्रि में एक बिस्तर पर उन्होंने शयन किया, किन्तु उन्होंने स्वयं ही कहा कि जीवन में एकदिन भी स्वप्न-दोष नहीं हुआ।

श्रीठाकुर, श्रीकृष्ण, बुद्ध और श्रीचैतन्य देव सभी तो एक ही हैं। विभिन्न युगों में अलग-अलग अनेक रूपों में अभिव्यक्ति मात्र है। इस बार श्रोतागण अच्छे होने के कारण व्याख्यान अच्छा हो गया। इसके अलावा चित्र, प्रेस, टेलीग्राम और रेलगाड़ी की सुविधा होने से, ये चीजें उनके भाव-प्रचार के कार्यों में सहायता की हैं। देखो, आज विश्व के कितने देश

'श्रीरामकृष्ण' का नाम जानते हैं !

प्रश्न – किन्तु बुद्ध का भावान्दोलन इससे अधिक Cancentrated, Congregated, Solid – संगठित, ऐक्य और शक्तिशाली लगता है। क्योंकि उन्होंने उस समय जो अद्‌भुत आन्दोलन प्रारम्भ किया था, उसकी भाव-तरंग केवल एशिया, अफ्रिका और यूरोप में ईसाई धर्म का रूप ले लिया है।

महाराज – अवश्य ही, उस समय त्याग का भाव प्रबल था। अच्छे श्रोता नहीं होने से प्रवचन ठीक नहीं होता है। मुझे सैदाबाद में प्रवचन देने के लिये ले गया। वैसे वहाँ श्रोता नहीं के बराबर थे, क्या प्रवचन दूँ ! मैंने देखा कि कुछ छड़ियाँ और घुंघट हैं। छड़ी का अर्थ वृद्ध और घुंघट का अर्थ वृद्धा-विधवा है। तब नारायण बाबू ने मुझसे पूछा कि क्या आप अस्वस्थ हैं? दूसरे दिन बहुत से युवक और शिक्षित व्यक्ति आये थे। उस दिन मैं लगातार तड़-तड़ करके बोलते गया।

प्रश्न – क्या नित्यकृष्ण और नित्यदास सम्भव है?

महाराज – जितने दिनों तक जीवों को स्थूल देह, सूक्ष्म देह और कारण देह का आभास बना रहेगा, उतने दिन ही सम्भव है। इसके बाद की अवस्था में उन्हें आना ही पड़ेगा और वही मुख्य तथा अंतिम बात है।

प्रश्न – तो ठाकुर जी को जो सब रूप दर्शन होते थे, क्या वे सब apparently मिथ्या हैं?

महाराज – मिथ्या क्यों होंगे? सापेक्ष सत्य Relative truth हैं, जब इस स्तर में रहूँगा, तब यह रूप देखा जाता है। इसके बाद – "जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं-वहीं कृष्ण का स्फुरण होता है।" जहाँ-जहाँ जाते मम लोचन। दिखते वहीं कृष्ण-श्यामघन।। तुम जितना ही सूर्य की ओर आगे बढ़ोगे, उतना ही उसे बड़ा देखोगे। प्रत्येक स्तर से, दृष्टिकोण से ही सूर्य को अलग-अलग रूपों में देखोगे और वह सत्य ही है। किन्तु जीव समाधि प्राप्त करने के बाद उससे लौट कर नित्यकृष्ण और नित्यदास में रह नहीं सकता है। केवल अवतार ही समाधि से वापस आकर रह सकते हैं। ठाकुर जी के सभी दिव्य दर्शन ही ऐसे थे – "श्यामा माँ, मैं अपने मन के साँचे में तुम्हें डालकर मनोमयी मूर्ति आज गढ़ लूँगा।"

प्रश्न – हम लोग आश्रम में इतने लोग रहते हैं, उनमें से कौन, कितना उन्नत हुआ है, इसे मैं कैसे समझूँगा ?

महाराज – दूसरे को नहीं देखना है, तुम स्वयं को देखो। स्वानुभूति ही आध्यात्मिकता है। अस्तित्व का एकत्व बोध जिसके अन्दर जितना है, उतना ही वह सही मार्ग पर चल रहा है। उसमें दूसरे की सेवा करने की इच्छा होगी ही।

किसी ब्रह्मचारी ने भोजन के बाद बचे हुए अन्न को कुत्ते को खाने के लिये दिया। वह कुत्ता चाट-चाट कर खा रहा है। महाराज जी ने ब्रह्मचारी को एक टूटा हुआ खपड़ा देकर कहा – "इसे धोकर रखो। कल से जब कुत्ते को खाने के लिये देना, तब इस खपड़े पर ही देना, इससे कुत्ते को खाने में सुविधा होगी।"

बरामदे में दरी बिछी हुयी है। सफेद चादर बिछी हुयी है। कोई नये आये हुये ब्रह्मचारी यहाँ सोते हैं। उनके पैरों के मैल से वह चादर गंदी हो गयी देखकर महाराज जी ने खुद एक सूती का बोरा लाकर रखते हुये कहा – "पैर पोंछ कर, इसमें चढ़ना, इससे चादर साफ रहेगी।"

दो-तीन युवक आये हुए हैं। रात में सोने के लिये व्यवस्था की जा रही है। मच्छरदानी लगानी होगी। लालटेन के प्रकाश से रस्सी खोजी जा रही है। महाराज जी ने देखकर कहा – "देखो, दीवाल में एक थैला टंगा हुआ है। उसके अन्दर धोती की किनारी, कपड़ों के टुकड़े और धागे इत्यादि हैं। जो आवश्यकता है, ले लेना। प्रसंगानुसार यह बात कह देना अच्छा है कि जिस लिफाफा में पत्र आता था, महाराज जी उसमें पानी लगाकर खोलते थे और उलटा मोड़कर फिर से उसका उपयोग करते थे। किसी ने महाराजजी को एक जोड़ी जूता दिया था। जितनी बार वह फट जाता था, उतनी बार वे उसका मरम्मत करके पहनते थे और कहते थे – हम लोग दूसरे के पैसे से खाते हैं।" उन्होंने कौतुक करके उस जूते का नाम दिया था – 'अबदुल्ला का चप्पल' जब उनको जूते पहनने की जरूरत पड़ती थी, तो कहते थे – "अबदुल्ला के चप्पल को लाओ तो।"

२-५-१९६०

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणः सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।

इस श्लोक के अर्थ को महाराजजी से पूछने पर उन्होंने इसके अर्थ को बताने के बाद कहा – "किन्तु, क्या यह सब भाषा से, वाणी से समझाया जा सकता है ! अपने जीवन में आचरण नहीं करने से कुछ भी नहीं होगा। देखो, तुम लोगों की सूक्ष्म-बुद्धि है, शरीर लगभग स्वस्थ है। तुमलोग कोशिश करने से इस देह-मन-बुद्धि के बाहर जा पाओगे, नहीं तो, कार्य में मत्त हो जाओगे। तुम लोगों को बुद्धि है। किन्तु ऐसी बुद्धि का एक डर यह है कि यह बौद्धिक-व्यायाम intellectual gymnastic बनकर रह जाती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖
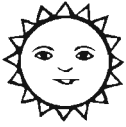
भारतीय जीवन-दृष्टि और पुरुषार्थ-चतुष्टय (१)
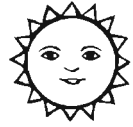
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा
प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

भारतीय जीवन-दृष्टि की यह विशेषता रही है कि उसका निर्माण योद्धाओं और व्यापारियों के द्वारा न होकर, सत्य के जिज्ञासु ऋषियों और चिन्तकों के द्वारा हुआ है। इसीलिये वह चेतना के सर्वोच्च आयामों के अनुसन्धान में अपनी सार्थकता मानती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह चेतना के अन्य आयामों और स्तरों को महत्त्व नहीं देती; वह जीवन को उसकी उच्चावच गतियों में स्वीकार करती है। वैदिक मंत्रों में देवताओं की स्तुति करते हुए ऋषि विविध लौकिक वस्तुओं जैसे दीर्घजीवन, युद्ध में विजय, सन्तति, समृद्धि और आरोग्य की याचना करते हैं, किन्तु देवताओं की उपस्थिति कालान्तर में विकसित होने वाले उस सम्बन्ध की भूमिका अवश्य प्रस्तुत कर देती है, जो सीमाबद्ध व्यक्ति-चेतना और असीम सर्वव्यापी परा-चेतना को परस्पर जोड़ता है और उस पहचान को अनावृत करता है, जो व्यक्ति-चेतना के द्वारा स्वयं को परा-चेतना से अभिन्न जान लेने में सहायक होती है।

भौतिक जीवन से परे एक स्वत:पूर्ण शाश्वत सत्य की अनुभूति को जीवन की परम उपलब्धि मानने वाले उपनिषदों में भी जीवन को नकारने की प्रवृत्ति न के ही बराबर है। व्यक्ति-चेतना या आत्मा – ब्रह्म है और ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण है। सभी पदार्थ उस आत्मा से ही अनुप्राणित हैं – 'नाम'-'रूप' और 'कर्म' की उपाधियों से युक्त होकर वह आत्म-तत्त्व की 'सृष्टि' के रूप में व्यक्त होता है, वही संसार की गति और स्थिति है। तैत्तिरीयोपनिषद् (३.१) में कहा गया है – **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद्-विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति**। यह ब्रह्म आनन्दरूप है, इसलिये यह विश्व आनन्द से बना है, आनन्दमय है, इसलिये उपनिषदों में दु:ख की नहीं अपितु आनन्द की मीमांसा है।

यह आनन्द-पर्यवसायिनी भारतीय जीवनदृष्टि अपनी कला, अपने साहित्य और अपने दर्शन में इस आनन्द की ही खोज करती है। भारतीय दर्शन उन जीवन-मूल्यों का अनुसन्धान करता है, जो मनुष्य की चेतना की प्रत्येक भूमि को, उसकी सहज जैविक और बौद्धिक वृत्तियों को दिव्यता से अनुप्राणित कर सके और मनुष्य अपने दु:ख को सुख में और सुख को आनन्द में बदल सके। मनुष्य के जीवन को विकासोन्मुख और ऊर्ध्वगामी बनाना ही इन जीवन-मूल्यों का लक्ष्य है।

पुरुषार्थ = प्राप्य, इष्ट, वस्तु, पदार्थ, भाव, गन्तव्य

उपनिषदों में मूल्य के लिये 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अर्थ' से मन्तव्य है 'प्राप्य' या 'गन्तव्य'। जब इस अर्थ का विकास हुआ, तो इसमें 'एष्य' और 'शब्दगोचर' – ये दो अर्थ और जुड़ गये। 'एष्य' का तात्पर्य है – 'इष्ट' या इच्छित और 'शब्दगोचर' का तात्पर्य है – जो वाणी और इन्द्रियों का विषय बन सके। इस तरह 'अर्थ' शब्द 'वस्तु', 'पदार्थ' और 'भाव' का वाचक बन गया।

पुरुषार्थ या इष्ट का चार वर्गों में विभाजन

मनुष्य के द्वारा 'इष्ट' पदार्थ असंख्य है और एक-एक कर उनकी विवेचना सम्भव नहीं है। इन्द्रियों, मन, बुद्धि और प्रज्ञा के स्तर पर मानव परस्पर भिन्न और विविध अर्थों (पदार्थों) की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है, अत: इन विविध मूल्यों की प्रकृति के अनुसार इन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया। ये चार वर्ग हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस वर्गीकरण में मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ समाहित हो जाती हैं; और यही इस अवधारणा का वैशिष्ट्य है।

चारों पुरुषार्थों के स्वरूप पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि इनके मूल्य-रूपात्मक होने कारण, 'मूल्य' की अवधारणा समझ ली जाय। सामान्यत: ज्ञान या जानकारी दो प्रकार की होती है – प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। जब हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु को जानते हैं, तो वह साक्षात् या प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; और जब अनुमान या शब्द-प्रमाण के द्वारा जानते हैं, तो वह अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दोनों ही स्थितियों में यह ज्ञान किसी-न-किसी चेष्टा को उत्पन्न करता है। यदि जाना गया पदार्थ हमारे अनुकूल है, तो हम उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और यदि प्रतिकूल है, तो उससे दूर रहने या उसके निवारण की चेष्टा करते हैं। दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान एक ऐसी चेष्टा को उत्पन्न करता है, जिसके द्वारा हमारी किसी इच्छा की पूर्ति होती है। यह इच्छापूर्ति या उद्देश्यपूर्ति, जिसकी प्रक्रिया ज्ञान से प्रारम्भ होती है, 'मूल्य' या Value है। हमारे चिन्तन में इस मूल्य या वैल्यू के लिये 'इष्ट' शब्द का प्रयोग होता है। इष्ट का अर्थ है अभीप्सित, इच्छित या वांछित। जो इसके विपरीत है, वह 'द्विष्ट' है अर्थात् द्वेष का विषय है, अवांछित है, Disvalue है। यह 'इष्ट' सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृष्टियों से होता है – जैसे सुख की प्राप्ति इष्ट है और दु:ख की निवृत्ति भी इष्ट है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि यह 'इष्ट' प्रयोजन की पूर्तिरूप है। यह न केवल ज्ञान है, न केवल पदार्थ, अपितु ज्ञान से उत्पन्न

अर्थ-विषयक चेष्टा का फलप्राप्ति में पर्यवसित होना है। इस प्रकार मूल्य – इच्छा या उद्देश्य की पूर्तिरूप (fulfilment) है। है। इस तरह मूल्य – मनुष्य और इष्ट के बीच भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्ध या विषय-विषयी-भाव के सिद्ध होने पर ही चरितार्थ होता है, क्योंकि यह फलप्राप्ति रूप है। वेदान्तसूत्रों (३.२.३८) पर अपने भाष्य में शंकर लिखते हैं – "**प्राक्-भोक्तृ-सम्बन्धात् फलस्वानुपपत्तेः**" – भोक्ता से सम्बन्ध हुए बिना फलरूपता की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार मूल्य स्वत:सिद्ध या पूर्वसिद्ध नहीं होते, वे साध्य रूप हैं।

किसी पदार्थ का ज्ञान किसी साध्य की प्राप्ति में पर्यवसित होता है, किन्तु मध्य में दो तत्त्व और हैं – उस साध्य का पूर्वाभास या पूर्वानुमान और उसे प्राप्त करने की इच्छा। प्रमाता के पूर्वानुभव के आधार पर साध्य के आभास में सुख की कल्पना या महत्त्वबुद्धि भी आवश्यक है। यह महत्त्वबुद्धि ही साध्य को प्राप्त करने की इच्छा और चेष्टा को उत्पन्न कर उस साध्य को 'इष्ट' बनाती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया का स्वरूप कुछ इस प्रकार निश्चित होता है – ज्ञान ➛ इष्ट का पूर्वाभास ➛ उसमें सुख की कल्पना ➛ इच्छा ➛ प्राप्त्यनुकूल चेष्टा ➛ इष्टप्राप्ति। इस मूल्यबोध में प्रमाता की चेतना के तीनों आयाम – इच्छा, ज्ञान और क्रिया समन्वित रूप से कार्य करते हैं। ये संयुक्त रूप से विषय के स्वरूप, विषयी के वृत्ति-स्वातंत्र्य और विषय-विषयी सम्बन्ध को निरूपित करते हैं।

इष्टसाधन के पूर्व इष्टविषयक एक धारणा मनुष्य के मन में होती है, चाहे वह अधूरी और अस्पष्ट ही क्यों न हो। यही मनुष्य और पशु के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर है। पशु भी इच्छापूर्ति के लिये चेष्टा करता है, किन्तु उसे प्राप्त होने वाले सुख का पूर्वाभास नहीं होता। वह केवल सहजवृत्ति के कारण चेष्टा करता है। ऐतरेय आरण्यक (२.३.२) में कहा गया है कि "जीवित प्राणियों में केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो जो-कुछ जानता है, उसे कह सकता है, उसे देख सकता है। वह इस लोक को जानता है, वह परलोक को जानता है। वह अनित्य साधनों से नित्य को प्राप्त करने की इच्छा रखता है। उसे ही यह विवेक प्राप्त है, अन्य प्राणी तो केवल क्षुधा-पिपासा का अनुभव करते हैं।" ऐसा नहीं है कि मनुष्य के मन में सदा ही इष्ट (लक्ष्य) की पूर्वधारणा विद्यमान होती है, कभी-कभी नहीं भी होती। शिशु को क्षुधातृप्ति की बौद्धिक समझ नहीं होती, तो भी वह माता का स्तनपान करता है। यह सहज प्रवृत्तिजन्य क्रिया है, फिर भी साध्य की पूर्वधारणा मनुष्यों द्वारा चाहे गये इष्ट (लक्ष्य) की विशेषता है। इस प्रकार मनुष्य अपने इष्ट की ओर बोधपूर्वक प्रवृत्त होता है। इस तथ्य में ही मानवोचित मूल्यों का आधार होता है; इसलिये मानव द्वारा चाहे गये 'इष्ट' या 'लक्ष्य' को ही 'पुरुषार्थ' कहते है – **पुरुषैः अर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः**। अन्य प्राणियों द्वारा काम्य पदार्थ पुरुषार्थ नहीं कहलाते।

हर व्यक्ति को न केवल चाहे-अनचाहे पदार्थों का ज्ञान होता है, अपितु उसे अपना ज्ञान या स्वानुभव (Self-awareness) भी होता रहता है। यह स्वानुभाव एक वरदान है, क्योंकि इसी के आलोक में व्यक्ति अपने विचारों, भावों और चेष्टाओं का विश्लेषण करता है। यह विश्लेषण सदैव किसी मानक के आधार पर हुआ करता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक आदर्श स्थिति की परिकल्पना होती है। यह स्थिति सांगोपांग पूर्णता या Absolute Perfection का आदर्श है। जब तक यह सर्वथा निर्दोष और आदर्श स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक आत्ममन्थन और आत्मालोचन की प्रक्रिया चलती रहती है। पूर्णता का आदर्श ही व्यक्ति को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है – "It is the presence within him of this idea of perfection, that makes a man a spiritual being." अन्तर्मन में निहित पूर्णता का यह आदर्श, यह आग्रह ही मनुष्य को आध्यात्मिक प्राणी सिद्ध करता है।

इस आदर्श स्थिति या पूर्णता की अवधारणा बनी रहने पर भी, यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति इसे प्राप्त कर ही लें, या इसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हो ही, क्योंकि वह जो बनना चाहता है, उसके अतिरिक्त वह वह भी है जो कि वह है। इस प्रकार के उभयलिंगी व्यक्तित्व के कारण मनुष्य की आत्मा और शरीर में, या दूसरे शब्दों में उसके व्यक्तित्व के उदात्त और अनुदात्त पक्षों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। सामान्य मनुष्य के व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों के बीच एक खाई है, इसलिये उदात्त या आत्मिक पक्ष, तब तक शारीरिक पक्ष पर प्रभावी नहीं होता, जब तक मनुष्य के भीतर अपनी भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण करने की प्रबल इच्छाशक्ति नहीं जागती। गीता यह तथ्य रेखांकित करती है, जब वह कहती है – **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः**।

उचित, सत्य और 'करणीय'

व्यक्तित्व के आन्तरिक संघर्ष से ही 'उचित' या 'करणीय' की धारणा विकसित होती है और 'उचित' के अनुसरण से 'सत्य' का अभिज्ञान होता है। आत्मिक पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के संघर्ष में जीवन के ये दो उदात्त मूल्य उभर कर आते हैं – 'उचित' और 'सत्य'। यह जानना आवश्यक है कि उदात्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साधारण या भौतिक लक्ष्यों की उपेक्षा करनी आवश्यक नहीं है। सामान्यत: स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अपने आप में बुरी या अनुचित नहीं होतीं, किन्तु मनुष्य जैसा बुद्धिमान प्राणी यदि उनकी अनुचित और अनियंत्रित तृप्ति करने लगता है, तो ये प्रवृत्तियाँ अपनी नैसर्गिक निर्दोषता खोकर जीवन में निषेधात्मक भूमिका ग्रहण कर लेती हैं। उदाहरण

के लिये भोजन शरीर की रक्षा के लिये आवश्यक है, वह सभी चेष्टाओं का आधार है। चेष्टाएँ उदात्त मूल्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं, अत: क्षुधापूर्ति स्वत:निर्दोष आधारभूत जीवन-मूल्य है, किन्तु क्षुधापूर्ति के लिये यदि हम किसी का अहित करते हैं, तो यह उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति में बाधक बन जाता है। अर्थ एक साधनभूत जीवनमूल्य है, पुरुषार्थ है, और धर्म-काम इन दोनों 'पुरुषार्थों' का सहयोगी भी है, अत: जब तक यह व्यक्ति का जीवन-सर्वस्व न बने, इसके अर्जन में कोई अनौचित्य नहीं है।

वस्तुत: भौतिक मूल्यों का आध्यात्मिक मूल्यों के साथ समन्वय किया जा सकता है। केवल सापेक्ष महत्त्व स्थिर करना होता है, प्राथमिकताएँ तय करनी होती हैं। 'उचित' (Right) और 'सत्य' (Truth) की अवधारणाएँ इस समन्वय की दिशा इंगित करती हैं। व्यक्ति के समक्ष उसकी निर्दोष परम शान्तिमय पूर्णता की एक कल्पना तो होती है, पर उसकी समझ आधी-अधूरी ही होती है। जब तक वह अपने स्वभाव के उदात्त और अनुदात्त पक्षों को सुस्पष्ट रूप से जान नहीं लेता, उसके विकास की दिशा स्पष्ट नहीं होती और उस की श्रेष्ठ वृत्तियाँ प्रभावकारी नहीं हो पातीं। इसीलिये भारत में दर्शन को अध्यात्मशास्त्र कहते हैं, क्योंकि वह उसके वास्तविक स्वरूप को आलोकित करता है और उसके परिवेश अर्थात् भौतिक जगत् के साथ उसका सम्बन्ध विश्लेषित करता है।

भारतीय मनीषियों ने जीवन-मूल्यों के प्रश्न पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है और मानव-जीवन के विविध पक्षों के सन्तुलन तथा मानव जीवन की चरम सार्थकता की दृष्टि से उनका वर्गीकरण किया है। यह वर्गीकरण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों के रूप में जाना जाता है। ये चारों पुरुषार्थ विभिन्न भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समाहार हैं। इनमें अर्थ एक साधनभूत (Instrumental Value) है, जो काम और एक सीमा तक धर्म का भी सहायक बनता है। काम और मोक्ष साध्यभूत मूल्य है। धर्म अपने विराट् व्यक्तित्व के कारण साधन और साध्य दोनों ही है। वह मनुष्य के आवेगों, संवेगों और वृत्तियों को उसके विकास में समायोजित करता है। धर्म मनुष्य के इहलौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष का साधन है – **अभ्युदय-निःश्रेयस-हेतुः**। धर्म, अर्थ तथा काम तीनों का ही चरित्र मूलत: इहलौकिक है, किन्तु धर्म चरम मूल्य – मोक्ष का पथ प्रशस्त करने के कारण विशेष आदरणीय है। ये तीनों ही मूल्य परस्पर सापेक्ष हैं, मोक्ष सर्वनिरपेक्ष और सर्वातिशायी है; वह मनुष्य की चेतना की आप्तकाम और परमानन्दमयी पूर्णता है और परम-पुरुषार्थ-रूप है, जन्म-जन्मान्तर की संघर्ष-गाथा का भरत-वाक्य है। भारत की मनीषा साहित्य, शिल्प, कला, दर्शन, रति-विरति, व्यवहार और परमार्थ की विविध सरणियों में इस पूर्णता को ही ढूँढ़ती है।

इन चार बृहत् जीवन-मूल्यों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप के सामान्य परिचय के बाद अब हर पुरुषार्थ की अवधारणा पर स्वतंत्र रूप से विचार करना समीचीन होगा।

'धर्म' की अवधारणा

पुरुषार्थों में 'धर्म' प्रथम जीवन-मूल्य है और उसका क्षेत्र लगभग सर्वव्यापक है। मानव-जीवन की हीन और उदात्त – सारी ही प्रवृत्तियाँ इसके द्वारा नियमित की जाती हैं, इसलिये 'धर्म' का स्वरूप विविध और बहुमुखी है। महाभारत में धर्म की परिभाषा दी गई है – **धारणात् धर्म इति आहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः** अर्थात् जो सबको धारण करता है, सबका आधार है, जो सबको जोड़े रखता है – वह धर्म है। इसका भाव यह है कि धर्म ही व्यवस्था का आधार है, चाहे वह सामाजिक व्यवस्था हो, या नैतिक व्यवस्था हो।

बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख है। क्षत्रिय-वर्ण प्रमुख रूप से समाज का आधार था, क्योंकि उसकी शक्ति समाज को स्थायित्व देती थी, किन्तु शारीरिक बल और बाह्य नियंत्रण सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या नहीं करते। शक्ति अत्याचार कर सकती है और बाह्य नियम प्रजा की आन्तरिक सद्भावना और स्वीकृति सुनिश्चित नहीं करते, जो कि व्यवस्था के बने रहने के लिए आवश्यक है। अत: शक्ति से श्रेष्ठ किसी सत्ता की आवश्यकता है, इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये श्रेयो-रूप जीवन-मूल्य 'धर्म' का विकास हुआ। धर्म का शासन राजा पर भी होता है, यह '**सर्वनियन्ता**' है, '**धर्मात् परं नास्ति**' (बृ.उप., १.४.१४) यह धर्म आन्तरिक शासन है, यह उचित और अनुचित का विवेक है, जो सभी प्राणियों में केवल मनुष्य के पास है। धर्म का क्षेत्र केवल मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं है, यह अत्यन्त विस्तृत धारणा है और प्राणिमात्र की कुशलता और कल्याण से सम्बद्ध है। इसका उदाहरण गृहस्थ व्यक्ति के द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले 'पंच-महायज्ञ' हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

'धर्म' भावरूप भी है और क्रियारूप भी है; वह विचार और आचार दोनों है। धर्म उन जीवन-मूल्यों का समाहार है, जो जीवन की सर्वोच्च और सुन्दरतम सम्भावनाओं को यथार्थ रूप देते हैं। धर्म केवल आचरण के नियम नहीं बताता, वह जीवन का आदर्श भी प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर जीवन की सार्थकता और श्रेष्ठता की परख की जाती है। इस प्रकार धर्माचरण के द्वारा व्यक्ति न केवल अपने परिवेश से, अपने समाज से सद्भावपूर्ण सम्बन्ध बनाता है, जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हितकारी होते हैं, अपितु अपने व्यक्तिगत कल्याण और उच्चतम लक्ष्यों को भी प्राप्त करता है।

हमारे धर्मशास्त्रों में धर्म के स्वरूप पर बड़ा गहन और विस्तृत विचार किया गया है। उस पर चर्चा करने से पहले संक्षेप में यह देखना रुचिकर होगा कि भारतवर्ष में धर्म की अवधारणा का विकास किस प्रकार हुआ। ज्ञातव्य है कि वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में निरन्तर नैतिक अवधारणाओं की कल्पना बनी रही और सदाचरण पर बल दिया जाता रहा। ऋग्वेद के दशम मण्डल (११७/६) में कहा गया है, 'जो अकेला खाता है, वह अपने पाप का भार भी स्वयं उठाता है' – **केवलाघो भवति केवलादी**। उपनिषद् भी बार-बार संयम, शान्ति, पितृभक्ति तथा अन्य दैवी गुणों को विकसित करने का उपदेश देते हैं – **सत्यं वद, धर्मं चर, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्** आदि (तै.,१.११.१)।

वैदिक मंत्रों में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द आता है, वह है 'ऋत्'। ऋत् से तात्पर्य था प्राकृतिक या वैश्विक गति की एकरूपता; घटनाओं का नियमित क्रम या प्रकृति-चक्र। उस काल में पूजित देवताओं का एक विशेषण था 'ऋतस्य गोप्ता' अर्थात् ऋत् का संरक्षक। 'ऋत्' शब्द की एक और अर्थभंगिमा थी – न्यायपूर्ण या न्यायोचित की। वैदिक देवताओं में अत्यन्त प्रभावशाली वरुण देवता का ऋत् से विशेष सम्बन्ध है। जो दुराचारी है, उसे वे कठोर दण्ड देते हैं। अपने सहस्र नेत्रों से वे मनुष्यों के कर्मों पर दृष्टि रखते हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि सृष्टि के रक्षक इन शक्तिशाली देव-शक्तियों को प्रसन्न करने के लिये केवल यज्ञादि ही पर्याप्त नहीं हैं, अपितु व्यक्ति को नैतिकतापूर्ण जीवन भी व्यतीत करना चाहिये। विश्व का संचालन मात्र भौतिक नियमों से नहीं होता, उस पर शासन करने वाली एक नैतिक व्यवस्था भी है। विश्व किसी जड़ नियम या अन्धे कानून से नियमित नहीं है; उसकी व्यवस्था चेतन-शक्ति के हाथों में है। इस तरह 'ऋत्' शब्द अपने दो अर्थों के द्वारा यथार्थ और आदर्श को जोड़ता है; जो है और जो होना चाहिये। सत्य की अवधारणा को संकेतित करता औचित्य-बोध इसका आधार है।

ऋणों का शोधन आवश्यक है

वैदिक चिन्तन के विकास-क्रम में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा सामने आती है वह 'ऋण' की है। इस धारणा का विकास विशेष रूप से ब्राह्मणकाल में हुआ। ये तीन ऋण हैं – देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण।

प्रथम ऋण देवताओं के प्रति है। उनकी प्रसन्नता हेतु यज्ञादि का अनुष्ठान कर उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। दूसरा ऋण ऋषियों के प्रति है। ज्ञान के आश्रयभूत वेदों का स्वाध्याय कर, उनके पठन-पाठन से इस ऋण से मुक्त होना चाहिये। तीसरा ऋण अपने पूर्वजों का है। यही पितृऋण है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा वंशवृद्धि कर पितृऋण की पूर्त्ति का विधान है। वेदों के स्वाध्याय और वंशवृद्धि के द्वारा विकसित होती एक सांस्कृतिक परम्परा और जाति-संरक्षण की भावना भी इन तीन ऋणों की अवधारणा में परिलक्षित होती है।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि 'ऋत्' के द्वारा सूचित वैश्विक नैतिक व्यवस्था ऋणों की अवधारणा में व्यक्तिगत बन जाती है। अब यज्ञ देवताओं को प्रसन्न कर उनसे अभीष्ट वरदान प्राप्त करने के लिये ही नहीं है; वरन् पूर्व में उनसे जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके लिये आभार व्यक्त करने का माध्यम है। यह कृतज्ञता-बोध व्यक्ति की विकसित होती नैतिक चेतना का सूचक है। इच्छापूर्ति की अपेक्षा कर्त्तव्यपूर्ति पर बल दिया जाने लगा। इस तरह क्रमश: धर्म एक आन्तरिक जीवन-मूल्य बनने लगा और एक सार्थक और उपयुक्त जीवन जीने की विधा के रूप में विकसित हुआ।

सामान्य और विशेष धर्म

'ऋत्' की धारणा के सन्दर्भ में सदाचार और शुचिता Virtue की एक सामान्य अवधारणा प्राप्त होती है; 'ऋण' की अवधारणा भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – तीनों वर्णों के लिये एक-सी ही थी, किन्तु जब ऋत् और ऋण के अनन्तर श्रेयो-रूप धर्म का विकास हुआ, तो सदाचार और करणीय-अकरणीय का विचार व्यक्तिगत स्तर पर भी हुआ। वर्ण और आश्रम की दृष्टि से कर्तव्यों का विधान किया गया। इस तरह साधारण धर्म, जो सर्व-सामान्य थे और विशेष धर्म जो वर्णों और आश्रमों के अनुसार थे, धर्म के द्वारा सुनिश्चित किये गये। ऋत् और ऋण की अवधारणाओं के विकास-क्रम में यज्ञादि के अनुष्ठान के रूप में कर्मकाण्ड का भी विकास हुआ। कर्मकाण्ड धर्म का भी अंग बना रहा, जैसा कि गृहस्थ के लिये अवश्य-करणीय पंच-महायज्ञों की अवधारणा से स्पष्ट है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर्मकाण्ड नैतिक सदाचार से स्वतंत्र नहीं रहा। इस बिन्दु पर आगे चर्चा होगी।

❖ (क्रमशः) ❖
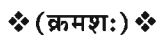
श्रीरामकृष्ण चालीसा

डॉ केदारनाथ लाभ, डी. लिट

दोहा

श्रीगुरु पद-अम्बुज परसि, सिर धरि धूरि पराग ।
रामकृष्ण यश चिर धवल, बरनउँ अति अनुराग ।।
ज्ञान ध्यान नहिं योग बल, कर्म धर्म नहिं एक ।
रामकृष्ण मों दीन को, दीजै विमल विवेक ।।

चौपाई

जय श्रीरामकृष्ण भगवाना ।
करुणामय जय कृपा निधाना ।।१।।
खुदीराम के तनय दुलारे ।
चन्द्रामणि माँ के दृग-तारे ।।२।।
गया गमन कीन्हें तव ताता ।
सपन विष्णु कहीं यह बाता ।।३।।
तुमहरे गेह लेब अवतारा ।
धरम गलानि हरब संसारा ।।४।।
विष्णु सत्व गुण लै तनु धारे ।
खुदीराम के गेह पधारे ।।५।।
मन्दिर मँह शिव ज्योति सुभाई ।
चन्द्रामणि के उदर समाई ।।६।।
शिव प्रकटे धरि रूप गदाई ।
धन्य हुई चन्द्रामणि माई ।।७।।
जनम लेत नव रूप दिखाए ।
सकल देह निज भसम रमाए ।।८।।
बक पाँति लखि नभ घन माँही ।
सहज समाधि लग्यो पल माँही ।।९।।
शिवलीला करि तुम शिव भयऊ ।
देखि सकल चित विस्मित भयऊ ।।१०।।
जब यज्ञोपवीत क्षण भयऊ ।
धनी कमारिन पहँ तुम गयऊ ।।११।।
प्रथम भीख लैं बाल गुसाईं ।
भिक्षा माँ की दियौ बड़ाई ।।१२।।
सत्य संधु प्रभु तुम करुणाकर ।
तज्यो जाति कुल मान भयंकर ।।१३।।
शिशु लीला करि दीन दयाला ।
गयो दक्षिणेश्वरहि कृपाला ।।१४।।
भवतारिणी पूजि बहु भाँती ।
दरस हेतु बिलखेउ दिन राती ।।१५।।
निज बलि देन खड्ग लै धायो ।
प्रकटी माँ, दरसन-सुख पायो ।।१६।।
सारदेश्वरी की गहि पाणी ।
भयउ युगल जनु शम्भु-भवानी ।।१७।।
कंचन काम तोहि नहिं व्यापा ।
शुद्ध बुद्ध अकलुष निष्पापा ।।१८।।
ज्ञान भक्ति अरु कर्म अशेषा ।
प्रकट भए धरि तुम्हरे वेषा ।।१९।।
जहँ तुम्ह रहेउ बहेउ रस धारा ।
अमित हर्ष आनन्द अपारा ।।२०।।
बहु देवन्ह तुम्हरे पहिं आयो ।
दर्शन दै तुम्ह माँहि समायो ।।२१।।
रामकृष्ण प्रकटे तव माँही ।
कलियुग मँह तुम सम कोउ नाहीं ।।२२।।
तुम्ह पहँ आई नरेन अधीरा ।
भयउ असंशय निर्भय धारी ।।२३।।
सहधर्मिणि पद धरि जप माला ।
सौंप्यो तप-फल सकल कृपाला ।।२४।।
सकल सिद्धि नरेन्द्र पर वारी ।
आपु अकिंचन भयो भिखारी ।।२५।।
केसर बरन सुकोमल गाता ।
सस्मित मुख आनन्द विधाता ।।२६।।
समाधिस्थ पद्मासन धारे ।
अर्ध मुदित दृग परम सुखारे ।।२७।।
पद्म पलास युगल तव नयना ।
परम मधुर सुर मोहक बयना ।।२८।।
तुम ही भक्ति भक्त भगवन्ता ।
अज अनादि अनवद्य अनन्ता ।।२९।।
जीव माँहि शिव दियो दिखाई ।
सकल शक्ति तुम्ह महँ प्रकटाई ।।३०।।
सर्व धर्म को दियो प्रतिष्ठा ।
जय जय जय अवतार वरिष्ठा ।।३१।।
गहि तव शरण गिरीश अपावन ।
भयउ अकाम अमल-चित पावन ।।३२।।
लाटू गँवइ पाई तव नेहा ।
भये सिद्ध ब्रह्मज्ञ विदेहा ।।३३।।
तारक सरत आदि कत प्राणी ।

तुम्हरे कृपा भयौ विज्ञानी ।।३४।।
करि तव भजन नरेन्द्र सुजाना ।
विश्व विजय कीन्हीं जग जाना ।।३५।।
को जग तव करि सकहिं बड़ाई ।
वेदहुँ सकइ न तव गुण गाई ।।३६।।
जो श्रद्धा सों तव गुण गावै ।
मुक्त होई चारहुँ फल पावै ।।३७।।
तव जप ध्यान नित्य जे करई ।
माँ सारदा तासु दुःख हरई ।।३८।।
पढ़ै जो रामकृष्ण चालीसा ।
तासु कलेश हरहि जगदीशा ।।३९।।
मो पर नाथ करहुँ निज दाया ।
हरहुँ विकार मोह मद माया ।।४०।।

दोहा

रामकृष्ण माँ सारदा, सहित विवेकानन्द ।
बसहुँ सदा मम हृदय महुँ, देहुँ परम आनन्द ।।

सारदावर रामकृष्ण की जय !
जननी सारदामणि की जय !!
स्वामीजी महाराज की जय !!!

श्री सारदा वन्दन

दोहा

माता श्यामासुन्दरी, रामचन्द्र पितु गेह ।
जगदम्बा भवतारिणी, उतरीं ले नव देह ।।१।।
पौष कृष्ण शुभ सप्तमी, दिन पुनीत गुरुवार ।
हुआ सारदा का परम करुणामय अवतार ।।२।।

छन्द

जयरामवाटी पुण्य-घाटी सहज सुकृति सहोदरा
चिर मनोभावना भूमि पावन शस्य श्यामल उर्वरा ।
मंगल-विधात्री शान्ति-दात्री लोक-शोक-तिमिर-हरा
अवतरीं माता दिव्यगाता विमल बुद्धि ऋतम्भरा ।।

दोहा

गूँज उठी शत शंखध्वनि,
गूँजे सुललित गान ।
नत वन्दन करने लगे,
सुर-मुनि वेद-पुराण ।।३।।

चौपाई

जय जय माँ सारदा सुनीता ।
विश्व-वन्दिता परम पुनीता ।।
जय श्यामासुन्दरी किशोरी ।
रामचन्द्र-दुहिता अति भोरी ।।
जय जय भुवन विमोहिनि माता ।
जय, शुचि रुचि मुख संगल दाता ।।
जय करुणा-वरुणा कल्याणी ।
जय संतति-वत्सला अमानी ।।
तुम ही उमा जानकी राधा ।
त्याग याग तप प्राप्ति अगाधा ।।
तुम ही ज्ञान कर्म की भाषा ।
अचल भक्ति की तुम परिभाषा ।।
पावन तन मन जीवन गंगा ।
निर्मल छवि रवि-रश्मि अभंगा ।।
रामकृष्ण गत प्राण तुम्हारे ।
रोम-रोम तन्नाम उचारे ।।

सोरठा

हरने को भू-भार, तुम आयी संसार में ।
लीला परम अपार, कौन तुम्हारी गा सके ।।४।।

छन्द

अक्षय सुहागिनि! चिर विरागिनि!
हे अमर वरदायिनी ।
माँ सारदेश्वरि ! हे शुभेश्वरि !
भक्ति दो अनपायिनी ।।
कर दो विमल मन अमल जीवन
देवि यह वर दो मुझे ।
अपनी रण में अन्त क्षण में
अभय कर धर लो मुझे ।।

दोहा

तारक शरत् नरेन्दर शशि,
लाटू हरि राखाल ।
स्नेह-सुधा तव पान कर,
सब हो गए निहाल ।।५।।
माँ दो निज पद पद्म में,
नित अखंड विश्वास ।
कटें बंध-भव उर-तिमिर,
मिटे ताप-त्रय-त्रास ।।६।।

❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

२२. युवा संन्यासी की कथा

एक तरुण संन्यासी वन में गये। वहाँ उन्होंने दीर्घकाल तक ध्यान-उपासना तथा योग-साधना का अभ्यास किया। अनेक वर्षों की कठोर तपस्या के बाद एक दिन जब वे एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, तो वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ उनके सिर पर आ गिरीं। उन्होंने ऊपर की ओर दृष्टि उठाकर देखा – पेड़ की चोटी पर एक कौआ और एक बगुला लड़ रहे थे। संन्यासी को बड़ा क्रोध आया। वे बोले, "यह क्या! तुम्हारी यह मजाल कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर डालो?" इन शब्दों के साथ उन्होंने क्रोधपूर्वक उन पक्षियों की ओर देखा। योगी के अन्दर इतनी शक्ति आ गयी थी कि उनके मस्तक से अग्नि की एक ज्वाला निकली और वे दोनों पक्षी जलकर राख हो गये। अपने में ऐसी शक्ति का विकास देखकर संन्यासी बड़े खुश हुए। उन्होंने सोचा, "वाह, अब तो मैं दृष्टि मात्र से कौए और बगुले को भस्म कर सकता हूँ!"

कुछ समय बाद भिक्षा के लिए वह एक गाँव में गया। वह जाकर एक दरवाजे पर खड़ा हुआ और पुकारा, "माँ, मुझे भिक्षा दीजिये।" घर के भीतर से आवाज आयी, "थोड़ा ठहरो, बेटा!" तरुण संन्यासी ने सोचा, "अरे दुष्ट महिला, तेरा इतना साहस कि तू मुझ से प्रतीक्षा कराये! तू मेरी शक्ति को नहीं जानती!" जब वे ऐसा सोच ही रहे थे कि भीतर से फिर आवाज आयी, "बेटा, अपने को इतना बड़ा मत समझ! यहाँ न तो कोई कौआ है और न बगुला!" सुनकर संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे थोड़ी देर और प्रतीक्षा करनी पड़ी।

आखिरकार महिला घर से बाहर निकली। संन्यासी उसके चरणों में गिर पड़े और बोले, "माँ, तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ?" स्त्री ने उत्तर दिया, "बेटा, न तो मैं तुम्हारा योग जानती हूँ और न तुम्हारी तपस्या। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुम्हें इसलिए थोड़ी देर प्रतीक्षा करायी कि मेरे पतिदेव बीमार हैं और मैं उनकी सेवा में लगी थी। अपने सारे जीवन मैं अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयास करती रही हूँ। जब मैं कुमारी थी, तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति अपना कर्तव्य निभाया; और अब विवाह हो जाने के बाद मैं अपने पतिदेव के प्रति कर्तव्य का निर्वाह करती हूँ। बस, यही मेरा योगाभ्यास है। परन्तु अपना कर्तव्य पूरा करने से ही मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये हैं, जिसके फलस्वरूप मैंने तुम्हारे विचारों को जान लिया और मुझे यह भी ज्ञात हो गया कि तुमने वन में क्या किया है। यदि तुम इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानना चाहते हो, तो अमुक नगर के बाजार में जाओ, वहाँ तुम्हें एक व्याध (कसाई) मिलेगा। वह तुम्हें कुछ ऐसी बातें बतायेगा, जिन्हें जानकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी।"

संन्यासी ने सोचा, "मैं भला क्यों उस शहर में उस व्याध के पास जाऊँ?" परन्तु उन्होंने अभी जो घटना देखी, उस पर विचार करने से उनकी आँखें थोड़ी-सी खुल गयी थीं। अत: वे उसी ओर चल पड़े। जब वह शहर के नजदीक आया, तो उन्होंने दूर से ही देखा कि एक मोटा-सा व्याध बाजार में बैठा हुआ बड़े-बड़े छूरों से मांस काट रहा है और अपने ग्राहकों से बातचीत भी कर रहा है।

संन्यासी ने सोचा, "हे भगवान! क्या यही वह व्यक्ति है, जिससे मुझे शिक्षा मिलेगी? यह तो शैतान का अवतार दीख पड़ता है!" इतने में व्याध ने दृष्टि उठाकर संन्यासी की ओर देखा और बोला, "महाराज, क्या उस स्त्री ने आपको यहाँ भेजा है? कृपया बैठ जाइये। मैं जरा अपना काम पूरा कर लूँ।" संन्यासी ने सोचा, "यहाँ मुझे क्या मिलेगा?" खैर, वे बैठ गये। इधर व्याध अपना काम करता रहा और काम पूरा हो जाने के बाद उसने अपने रुपये-पैसे समेटे और संन्यासी से कहा, "चलिए महाराज, मेरे घर चलिए।"

घर पहुँचकर व्याध ने उन्हें आसन देते हुए कहा, "आप यहाँ प्रतीक्षा कीजिये।" और घर के भीतर चला गया। उसने अपने वृद्ध माता-पिता को स्नान कराया, उन्हें भोजन कराया और उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो भी आवश्यक था, किया। उसके बाद वह उस संन्यासी के पास आकर बोला, "महाराज, आप यहाँ मुझसे मिलने आये हैं। अब बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा विषयक कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तर में व्याध ने उन्हें जो उपदेश दिये, वे 'व्याध-गीता' के नाम से महाभारत में प्राप्त होते हैं। इसमें हमें वेदान्त के सर्वोच्च तत्त्वों के दर्शन होते हैं। जब व्याध अपने उपदेश समाप्त कर चुका, तो संन्यासी को बड़ा आश्चर्य बोध हो रहा था। वे बोले, "आप इस शरीर में क्यों हैं? इतने ज्ञानी होते हुए भी आप व्याध-शरीर में क्यों हैं और इतना गन्दा और घिनौना कार्य क्यों करते हैं?"

व्याध ने उत्तर दिया, "वत्स, कोई भी कर्तव्य गन्दा नहीं है। कोई भी कर्तव्य अपवित्र नहीं है। मुझे अपने जन्म से ही ये परिस्थितियाँ तथा परिवेश प्राप्त हुए हैं। अपने बचपन में

ही मैंने यह व्यापार सीखा है, मैं अनासक्त हूँ और अपना कर्तव्य उत्तम रूप से पूरा करने की चेष्टा करता हूँ। मैं गृहस्थ के रूप में अपना कर्तव्य पालन करने का प्रयास करता हूँ और यथासम्भव अपने माता-पिता को भी प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता रहता हूँ। न तो मैं तुम्हारा योग जानता हूँ, न कभी संन्यासी ही हुआ और न कभी संसार छोड़कर वन में गया; तथापि अभी तुमने जो कुछ भी देखा और सुना, वह सब मुझे अपनी परिस्थिति के अनुसार अनासक्त भाव से कर्तव्य पालन करने से ही प्राप्त हुआ है।'' (३/४३-४५)

२३. सूक्ष्म की सहायता से स्थूल को पकड़ो

एक राजा का एक मंत्री था। किसी कारण राजा उस पर नाराज हो गया। सजा के रूप में राजा ने उसे कैद करके एक बड़ी ऊँची मीनार की छत पर रखने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा का पालन किया गया। मंत्री भी वहाँ कैद होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा। मंत्री की पत्नी बड़ी पतिव्रता थी। रात के समय वह उस मीनार के नीचे आयी और उसने छत पर कैद अपने पति को पुकारकर पूछा, ''आपकी सहायता के लिये मैं क्या कर सकती हूँ?'' मंत्री बोला, ''कल रात तुम एक लम्बा मोटा रस्सा, एक मजबूत डोरी, एक बण्डल सूत, रेशम का पतला सूत, एक भौंरा और थोड़ा-सा शहद लेकर यहीं आ जाना।''

स्त्री अपने पति की बात सुनकर बहुत चकित रह गयी। खैर, अगले दिन वह पति द्वारा इच्छित सारी चीजें लेकर वहाँ पहुँच गयी। पति ने कहा, ''रेशम के सूत को मजबूती के साथ भौंरे के पैर में बाँध दो, फिर उसके मस्तक पर शहद की एक बूँद लगा दो और उसका सिर ऊपर की ओर करके उसे मीनार की दीवार पर छोड़ दो।'' उसने इन सभी आज्ञाओं का पालन किया किया। अब भौंरे ने अपनी लम्बी यात्रा शुरू कर दी। ऊपर की ओर शहद की गन्ध पाकर, उसे पाने के लोभ में वह धीरे-धीरे ऊपर की ओर रेंगने लगा। मीनार की छत तक पहुँचते ही मंत्री ने झपटकर उसे पकड़ लिया और उसके साथ ही रेशम का धागा भी उसके हाथ में आ गया। इसके बाद वह अपनी पत्नी से बोला, ''बण्डल में जो सूत है, उसे रेशम के धागे के छोर से बाँध दो।'' इस प्रकार वह भी उसके हाथ में आ गया। इसी उपाय से उसने क्रमशः डोरी और आखिरकार मोटे रस्से को भी पकड़ लिया।

बाकी का काम बड़ा आसान था। रस्से को ऊपर बाँधकर मंत्री मीनार से नीचे उतर आया और फरार हो गया। हमारी इस देह में श्वास-प्रश्वास की गति ही मानो 'रेशमी धागा' है। इसे पकड़ लेने या इस पर नियंत्रण रखना सीख लेने पर हम स्नायविक शक्तिप्रवाह (Nerve currents) रूपी सूत के मोटे धागे को, फिर अपने मनोवृत्तियों के रूप में मजबूत डोरी को और अन्त में प्राण-रूप मोटे रस्से को पकड़ सकते हैं। प्राणों को जीत लेने पर हमें मुक्ति मिल जाती है। (१/५४-५)

२४. हमारे विवादों का मूल कारण

एक कुएँ में एक मेढक रहता था। वह बहुत दिनों से उसी में निवास करता था। वह वहीं जन्मा और वहीं बड़ा हुआ; तो भी वह एक छोटा – नन्हा-सा मेढक मात्र था। वैसे वहाँ पर विकासवादी नहीं थे, जो हमें बता पाते कि मेढक की आँखें जा चुकी थीं या नहीं। पर अपनी कहानी के लिए हम मान लेते हैं कि उसकी आँखें थीं और वह जल में रहनेवाले सभी कीड़ों-मकोड़ों तथा जीवाणुओं की प्रतिदिन इतनी तीव्र गति से सफाई करता था, जो आधुनिक जीवाणु-वैज्ञानिक के लिए गौरव की बात होगी। इसी प्रकार जीवन यापन करते हुए वह थोड़ा चिकना और मोटा हो गया था।

एक दिन समुद्र में रहनेवाला एक अन्य मेढक उधर से जाते हुए उस कुएँ में गिर पड़ा।

''तुम कहाँ से आये हो?''

''समुद्र से आ रहा हूँ।''

''समुद्र से? वह कितना बड़ा है? क्या वह मेरे कुएँ के जितना बड़ा है?'' यह कहकर उसने कुएँ के एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग लगायी।

समुद्र का मेढक बोला, ''मेरे मित्र, तुम अपने इस छोटे-से कुएँ से भला समुद्र की तुलना कैसे करते हो?''

तब मेढक ने एक और छलाँग मारी और पूछा, ''क्या तुम्हारा समुद्र इतना बड़ा है?''

– ''समुद्र से अपने कुएँ की तुलना करते हुए यह तुम कैसी बकवास कर रहे हो।''

कुएँ का मेढक बोला, ''मेरे कुएँ से बड़ी दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती। इससे बड़ी अन्य कुछ हो ही नहीं सकती। यह झूठा है, इसे निकाल बाहर करो।'' (८/२९६-७)

२५. नमक का पुतला समुद्र में

साधारण जीवों की दशा उस नमक के पुतले के जैसी है, जो समुद्र को नापने गया था, पर स्वयं ही उसमें घुल गया। समझे न? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। (६/१०१) ❖ **(क्रमशः)** ❖

विभिन्न रूपों में श्रीमाँ

आशुतोष मित्र

१९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित लेखक के 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय हम २००६ के अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के खण्ड २ से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(३३) ठाकुर-पूजा की समाप्ति के बाद माँ थोड़ी देर स्वयं में बैठी रहीं। इसके बाद अपने पास बैठे नये ब्रह्मचारी से पूछा, "तुमने ठाकुर को देखा है? श्यामपुकुर में?" ब्रह्मचारी बोले, "उस समय मेरी आयु पाँच वर्ष थी – मुहल्ले की स्त्रियाँ उन्हें देखने गयी थी, उनके साथ मेरी माँ मुझे गोद में लेकर गयी थीं – आपने कैसे जाना?"

माँ – "तुम्हें लड्डू देने के लिये ठाकुर ने छींके की ओर इशारा किया था। किसने दिया था, कुछ याद है?" ब्रह्मचारी – "हाँ, एक स्त्री ने लाकर दिया था।"

माँ – "वह मैं थी।'

"आप थीं!" – ब्रह्मचारी अवाक् होकर बोले।

माँ – "तुमने एक बार और उन्हें देखा था?"

– "हाँ, ठाकुर के देहत्याग के बहुत बाद – पुरी के श्री मन्दिर में।"

माँ – "और तुमने हाथ से इशारा करके उन्हें पुकारा था?"

– "उन्होंने ही पुकारा था, इसीलिए तो मैंने भी पुकारा था।"

माँ – "लड़के को दर्शन हुआ है – ऐसा जानकर मन्दिर में हो हल्ला मच गया था।"

– "आपने यह सब कैसे जाना?"

माँ – "मैं थी।"

ब्रह्मचारी भावविभोर होकर माँ के चरणों में लोटने को उद्यत हुए, परन्तु माँ ने इसका अवसर दिये बिना ही उन्हें मंत्रदीक्षा प्रदान किया और उसके बाद अपने हाथ से उनकी ठुड्डी का स्पर्श करके हाथ को चूम लिया।

(३४) कई वर्ष बाद माँ से इस घटना के बारे में पूछने पर पता चला कि उन्होंने दीक्षार्थी को देखकर उसके पूर्व जीवन और साथ ही उसके लिये हितकर इष्टमंत्र को भी देखा था।

(३५) पिछली रात माँ 'चैतन्य-लीला' का नाटक देखने आयी हैं। गिरीशचन्द्र की व्यवस्था के अनुसार उनके बैठने के लिए एक बॉक्स छोड़ दिया गया था और बहुत दिनों बाद केवल उसी रात के लिए 'चैतन्य-लीला' के मंचन का आयोजन हुआ है। 'जगाई' की भूमिका में अर्धेन्दु शेखर और 'मधाई' की भूमिका में गिरीशचन्द्र स्वयं उतरे। रंगमंच से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी, भूषण ने माँ के लिए बिना पारिश्रमिक लिए 'निमाई' (चैतन्यदेव) की और सुशीला ने 'निताई' (नित्यानन्द) की भूमिका निभायी। नाटक शुरू होने के पहले दोनों अभिनेत्रियाँ माँ को प्रणाम कर गयीं। इस विषय में चर्चा करते हुए माँ बोलीं, "बच्ची (भूषण) को देखा, भक्तिमती है – बिना भक्ति के क्या कुछ होता है जी? निमाई बनी है, तो ठीक निमाई बनी है – कौन कहेगा, स्त्री है?" फिर जगाई-मधाई के बारे में कहने लगी, "उनके समान भला कौन भक्त है? रावण के जैसा कौन भक्त है? हिरण्य-कश्यप के समान कौन भक्त है? ये गिरीश बाबू ठाकुर को क्या-क्या नहीं करते थे, तो भी उसके जैसा दूसरा कौन भक्त है?

ये लोग इसी रूप में आये हैं। भक्त होना क्या सहज बात है? भक्ति क्या ऐसे ही हो जाती है?" इसके बाद वे लक्ष्मी-दीदी की ओर उन्मुख होकर बोलीं, "ओ, लक्ष्मी, वह क्या भजन है? मैं मुक्ति देने में कातर नहीं होता...?" लक्ष्मी दीदी सुर के साथ गाने लगीं –

मैं मुक्ति देने में कातर नहीं होता,
शुद्धा भक्ति देने में कातर होता हूँ।

(३६) मैंने हमेशा माँ को लाल या काली पतली किनारी की साड़ी पहने देखा है। अधिकांश भक्त लाल किनारी की साड़ी देते। कोई-कोई काली किनारी की भी देते। उनके हाथों में दो घुमावदार डिजाइन के कंगन और गले में सोने के तार से गूँथी हुई छोटे-छोटे रुद्राक्षों की एक माला रहती थी। माले में १०८ छोटे-छोटे रुद्राक्षों के दाने रहते। उसे शायद योगेन महाराज के समय बनवाया गया था। हमारे समय में यह माला घिसते-घिसते एक जगह से टूट गयी थी। रुद्राक्ष के दानों को सोने के नये तारों में गुँथवा दिया गया था। दोनों चरणों की बीच की अंगुलियों में वात के निवारणार्थ लोहे के तार की अँगूठियाँ रहतीं।

(३७) वात के कारण माँ नित्य स्नान न करके एक दिन के अन्तर से करती थीं। कलकत्ते में रहने पर गंगास्नान करतीं और गाँव में रहने पर बड़े तालाब में। माँ के भोजन के समय हम लोगों में से किसी के उपस्थित रहने पर, वे जो भी

खातीं, उसमें से प्रसाद देतीं। पान खाते रहने पर उसका प्रसाद नहीं देतीं – या तो स्वयं एक पान ला देतीं अथवा किसी से मँगवाकर अपने हाथों से देतीं।

(३८) हरि की माँ नाम की मुहल्ले की एक प्रौढ़ विधवा माँ के पास हर रोज आती थीं। एक दिन दोपहर में वे अपने गृहस्थी के झंझटों के बारे में माँ को बताकर अन्य बातों के साथ बोली, "क्या करूँ माँ? यह तो छोड़ा नहीं जा सकता न! यही देखिए न, आप क्या राधू को छोड़ सकती हैं? उसे छोड़कर रह सकती हैं?"

माँ एक अपूर्व हँसी के साथ बोलीं, "मेरी बात छोड़ दो, हरि की माँ।" माँ की उस हँसी और इस उक्ति से हम लोगों के हृदय में एक नयी बात अंकित हो गयी। उस समय तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, परन्तु उनके रात के भोजन के बाद यह प्रसंग उठाकर पूछने पर वे प्रतीक्षा करने को कहकर हाथ धोने चली गयीं। लौटकर हाथ-पैर पोंछने के बाद बिस्तर पर बैठकर वे कहने लगीं, "वे लोग क्या समझेंगे? देखो न, कहती है कि राधू पर मेरी आसक्ति है! जिनके घर में जन्म लिया है, उनकी देखभाल करनी पड़ती है। इसीलिए तो माँ, बाप, भाई, भाभी-भतीजी – सबके लिये करना पड़ता है। किसी का भी ऋण नहीं रखना चाहिये। नहीं तो राधू-वाधू मेरी कौन है? ठाकुर ने अपनी माँ की कितनी सेवा की है – रामलाल को काली-मन्दिर की पूजा का काम दिलवाया।" इस उक्ति से नया आलोक मिलने पर मैं पूछ बैठा, "तो फिर आपके अपने लोग कौन हैं?" उत्तर मिला, "वचनामृत में 'सांगोपांग' पढ़ा है न? ठाकुर का ही कहो या मेरा ही कह लो, ये ही बच्चे-बच्चियाँ हमारे अपने लोग हैं।" मैंने पूछा, "तो ऐसा है माँ?" माँ बोलीं, "क्यों? समझ नहीं पा रहे हो? वहाँ (लेखक के हृदय को दिखाकर) क्या है?" मैंने कहा, "आप हैं।" माँ बोलीं, "यहाँ भी (अपना हृदय दिखाकर) तुम लोग ही हो – इसमें माया नहीं है, यह बड़ा आकर्षण है। इस आकर्षण से बार-बार आना-जाना पड़ता है। समझ रहे हो न?" – "हाँ, माँ।" – "जाओ, अब सो जाओ। लिखोगे न?" – अभी जाकर लिखूँगा।" माँ – "देखोगे – जब संसार में अन्य कोई तुम्हारा अपना नहीं है, तब ठीक-ठीक समझोगे कि यह कैसा आकर्षण है।"

(३९) श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का जो भी भाग या संस्करण प्रकाशित होता, मास्टर महाशय आकर पहले वह पुस्तक माँ को दे जाते; और माँ भी हर रोज दोपहर में किसी-न-किसी स्त्रीभक्त से उसे पढ़वाकर तब तक सुनतीं, जब तक कि वह समाप्त नहीं हो जाता। हर महीने 'उद्बोधन' आने पर भी वे ऐसा ही करतीं।

(४०) एक बार एक हास्यकर घटना हुई। साहब के यहाँ से जब माँ का (१५"-१२") चित्र बनकर आया, तो कैसा हुआ है – यह देखने के लिए माँ के हाथ में एक चित्र दिया गया। माँ ने दोनों हाथ बढ़ाकर उसे लिया और अपने मस्तक से छुलाने के बाद देखने लगीं। उन्हें ऐसा करते देखकर मैंने बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी रोकी। बाद में उसे लौटा दिया जाने पर मैंने पूछा, "फोटो किसकी थी, माँ?" उन्होंने सरल बालिका की तरह उत्तर दिया, "क्यों, मेरी थी।" इस उत्तर पर मैं हँस पड़ा। उन्होंने पूछा, "हँस क्यों रहे हो?" मैं बोला, "तो आपने मस्तक से क्यों लगाया?" वे भी हँसने लगीं और बोलीं, "उसके भीतर भी तो ठाकुर हैं।"

(४१) माँ के एक प्रौढ़ शिष्य अविवाहित होने का व्रत लेकर घर में रहते थे और कलकत्ते के एक विद्यालय में शिक्षक का काम करते थे। मैं तब की बात कर रहा हूँ, जब माँ जयरामबाटी में थीं और मठ नीलाम्बर मुखर्जी के गंगातीर पर स्थित बेलूड़ के बगीचे में था। एक दिन शाम को वे शिष्य मठ में आकर अपने गुरुभाइयों को एकत्र करके बोले कि उन्होंने सामयिक उत्तेजनावश आवेग में एक बड़ा अनुचित कार्य कर डाला है, जो उनके विद्यालय के संचालकों तथा कुछ छात्रों के अभिभावकों को मालूम हो गया है और अगले दिन इस विषय पर विचार होगा। अत: अब उनका क्या कर्तव्य होगा – इस विषय में वे उन लोगों के विचार जानना चाहते थे। उन लोगों ने एकमत से राय दी कि उनके अपने किये भूल के लिये किसी भी संकट का सामना करने को तैयार रहें, माँ का स्मरण करके निष्काम भाव से उन्हें सारी घटना बतायें और स्कूल जाते समय वे माँ के निमित्त प्रणाम करके जायें। अगले दिन उन्होंने वैसा ही करते हुए संचालकों के सामने उपस्थित होकर सरल भाव से अपनी भूल स्वीकार की और जो भी दण्ड मिलेगा, उसे सिर झुकाकर स्वीकार करने की बात कही। इसके फलस्वरूप संचालकों ने उन्हें केवल भविष्य के लिये सावधान करते हुए क्षमा कर दिया। विपत्ति टल जाने के बाद वे मठ में आकर अपने गुरुभाइयों के साथ प्रेमालिंगन कर गये।

❖ **(क्रमश:)** ❖
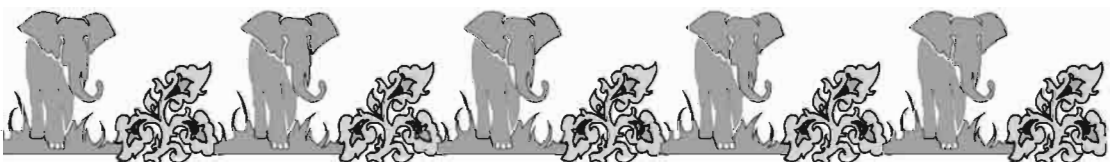
मंत्रदीक्षा और आध्यात्मिक साधना

स्वामी भूतेशानन्द

रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी ने बैंगलोर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में ४ सितम्बर १९८४ ई. को अंग्रेजी में मंत्रदीक्षा के विषय में एक अति मूल्यवान व्याख्यान दिया था। इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने किया है – सं.)

'दीक्षा' शब्द का अर्थ है – कुछ आरम्भ करने का संकल्प या व्रत लेना। इसीलिये अंग्रेजी में इसे 'initiation' (इनिशिएशन) कहते हैं, जिसका अर्थ है आरम्भ या शुरुआत करना या किसी व्यक्ति को किसी निश्चित पथ या दिशा की ओर यात्रा करने के लिए तैयार करना। दीक्षा के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और इसकी पद्धतियाँ भी विविध हो सकती हैं। यथा शास्त्रों में 'यज्ञदीक्षा' का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है कुछ पाने के उद्देश्य से किसी विशेष यज्ञ का अनुष्ठान करने का व्रत लेना। 'मंत्रदीक्षा' का अर्थ है – किसी व्यक्ति को किसी मंत्र का जप करने में व्रती बनाना और यहाँ हम लोग अपना ध्यान इसी विषय पर केन्द्रित करेंगे।

मंत्र और दीक्षा

मंत्र क्या है? मंत्र एक आध्यात्मिक या गोपनीय सूत्र है, जिसकी आवृत्ति करने से अज्ञान के बन्धन से अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। मंत्रदीक्षा का यही उद्देश्य है। दीक्षा क्या है तथा हमारी आध्यात्मिक साधना में यह कितनी महत्त्वपूर्ण है, इस विषय में हम लोगों के मन में बड़ी भ्रान्ति है। दीक्षा किसे कहते हैं और इसे किस प्रक्रिया से प्राप्त करना चाहिए – इस विषय में स्पष्ट जाने बिना ही अनेक लोग दीक्षा लेना चाहते हैं। दीक्षा शब्द का उपयोग मैं जिस अर्थ में करूँगा, वह है अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों हेतु गुरु द्वारा उपदिष्ट मंत्र का नियमित रूप से जप करने का व्रत लेना।

संस्कृत में मंत्र शब्द की व्याख्या के रूप में कहा गया है – **मननात् त्रायते इति मंत्रः** अर्थात् मंत्र उसे कहते हैं जिस पर ध्यान-चिन्तन करने से व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से, भवसागर से, माया के संसार से मुक्त हो जाता है। मंत्र शब्द का यही व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है; और दीक्षा का अर्थ है गुरु द्वारा निर्धारित एक विशेष पद्धति के अनुसार मंत्रजप आरम्भ करना।

मंत्रों की परम्परा

प्राचीन काल में वेदों में पाये जानेवाले श्लोकों को मंत्र कहते थे। मंत्र-ब्राह्मणयो: वेद-नामधेयम् – मंत्रों और ब्राह्मणों के संकलन को वेद कहते हैं। विभिन्न यज्ञों के सन्दर्भ में ऋषियों की उक्तियों को मंत्र कहते हैं। वेद के उन अंशों को ब्राह्मण कहते हैं, जिनका इन मंत्रों के साथ उपयोग होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ यह बताते हैं कि इन मंत्रों का विभिन्न यज्ञों आदि में किस प्रकार प्रयोग किया जाय। परन्तु परवर्ती काल के तांत्रिक ग्रन्थों में 'मंत्र' शब्द ने भिन्न अर्थ धारण कर लिया। तांत्रिक साहित्य में 'मंत्र' का अर्थ है – शब्दों द्वारा निर्मित एक विशेष तथा गोपनीय सूत्र, जो ईश्वर के किसी विशेष रूप से जुड़ा हो। ये एक ऐसी भाषा में रचित होते हैं, जो सामान्य लोगों द्वारा समझे नहीं जा सकते। तांत्रिक मंत्र अत्यन्त छोटे अक्षरों से मिलकर बने हुए तथा रहस्यमय प्रतीत होते हैं और जो ईश्वर के कुछ विशेष पहलुओं के द्योतक होते हैं।

ऐसी मान्यता है कि वैदिक या तांत्रिक मंत्र अपौरुषेय हैं अर्थात् मनुष्यों द्वारा रचित नहीं हैं। कहते हैं कि वे गुरुओं तथा शिष्यों की अटूट परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। वेद और तंत्र – दोनों कहते हैं कि मंत्र अनादि हैं। वेद कहते हैं कि मंत्र ऋषियों के समक्ष प्रकट हुए और तंत्र के मतानुसार मंत्र पार्वती के प्रश्नों के उत्तर में कही गयी शिव की उक्तियाँ हैं। पार्वतीजी ने प्रश्न किये और शिव ने इनके द्वारा समाधान किया। तांत्रिक अर्थों में – मंत्र एक गोपनीय सूत्र है, जो ईश्वर के किसी विशेष रूप की प्रतीकात्मक प्रस्तुति है। ईश्वर के विभिन्न रूपों के लिए भिन्न-भिन्न मंत्र हैं। मंत्रदीक्षा का अर्थ है गुरु द्वारा अपने शिष्य को एक विशेष मंत्र प्रदान करना। शिष्य उस मंत्र का जप करने या उस पर ध्यान करने का व्रत लेता है।

तांत्रिक और वैदिक मंत्रों में भेद यह है कि वैदिक मंत्र – प्रार्थनाओं, स्तोत्रों आदि के संक्षिप्त रूप हैं, जिनकी विभिन्न यज्ञों में विशेष देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु आवृत्ति की जाती है, जबकि तांत्रिक मंत्र – परमात्मा के किसी विशेष रूप अर्थात् देवी या देवता का प्रतिनिधित्व करनेवाले गोपनीय सूत्र हैं। आजकल भारत में जो मंत्रदीक्षा दी जाती है, वह अधिकांशत: तांत्रिक प्रक्रिया पर आधारित है। वैदिक युग में भी दीक्षा होती थी, जिसकी कुछ परम्पराएँ आज के काल में भी विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, जब एक शिष्य अध्ययन हेतु गुरुगृह में जाता था और शिष्य के रूप में स्वीकार किया जाता था, तो उसे सुविख्यात गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती थी। वैदिक गायत्री मंत्र आकार में लम्बा है, जबकि तांत्रिक मंत्र छोटे होते हैं।

मंत्रों की बड़ी सावधानीपूर्वक रक्षा की जानी चाहिए, ताकि उनके रूप तथा ध्वनि में कोई परिवर्तन न आ जाय। इसमें कुछ भी जोड़ना या घटाना उचित नहीं है। आजकल वेद लिखित रूप में पाये जाते हैं, परन्तु प्राचीन काल में गुरु उसे केवल मौखिक रूप में ही शिष्य को बताते थे। इसी कारण वेदों को 'श्रुति' कहते हैं। शिष्य उन्हें गुरु के मुख से

सुनते थे और कण्ठस्थ कर लेते थे। इन मंत्रों में किसी भी परिवर्तन या संशोधन की अनुमति नहीं थी। उनमें व्याकरण-सम्मत सुधार भी नहीं किया जा सकता था। वे अपने आप में परिपूर्ण थे और शिष्य को केवल गुरु के उपदेशों पर चलते हुए उन पर ध्यान करना होता था। तंत्रशास्त्र के अनुसार भी मंत्रों को अपरिवर्तित रखना चाहिये और उनका यथावत् जप करना चाहिए। तांत्रिक मंत्रों के सन्दर्भ में भी गोपनीयता बरती जाती थी, क्योंकि ऐसी कठोर नियमबद्धता के अभाव में मंत्र आशानुरूप फल नहीं देते। मंत्र का मुख से उच्चारण करने पर उसकी शक्ति में कमी आ जाती है। मंत्र अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं और हमारे भीतर आध्यात्मिक ज्ञान को प्रकट करने में सहायक होते हैं। मंत्र का जप करने से शिष्य के समक्ष इष्टदेवता की मूर्ति या उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है।

गुरु की आवश्यकता

परन्तु आजकल चूँकि वेद मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं, अत: कोई भी उन्हें लेकर पढ़ सकता है। इसी प्रकार तांत्रिक मंत्र तांत्रिक ग्रंथों में प्रकाशित हैं, अत: उन्हें कोई भी पढ़ सकता है। परन्तु वैदिक और तांत्रिक – दोनों ही शास्त्रों में ऐसा निर्देश है कि यह सही पद्धति नहीं है। उपनिषद् घोषित करते हैं कि केवल आचार्य से प्राप्त ज्ञान ही फलदायी होता है : ''**आचार्यात् हि एव विद्या विदिता साधिष्टं प्रापति इति**।'' (छान्दोग्य उपनिषद् ४.९.३) ज्ञान का अल्प अंश मात्र भी यदि हमें अपने जीवन में सचमुच फलदायी बनाना है, तो इसे गुरु के उपदेश के माध्यम से ही पाना होगा। वेदों और पुराणों – दोनों में ही इस नीति का निष्ठापूर्वक अनुसरण करने का निर्देश दिया गया है। इसका कारण यह है कि गुरु केवल मंत्र ही नहीं देते, अपितु शिष्य में अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार भी करते हैं। छपी हुई पुस्तकों में मंत्रों को पढ़ने से शक्ति का संचार नहीं होता।

अब हम इस बात को थोड़े अधिक बौद्धिक तथा तर्कसंगत रूप में समझने का प्रयास करेंगे। मान लीजिये हम किसी पुस्तक में किसी नैतिक आचार के विषय में पढ़ते हैं, तो सम्भव है कि हम उससे थोड़े-बहुत प्रभावित हों; परन्तु जब हम उन्हीं बातों को किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से सुनते हैं, जिनके प्रति हमारा श्रद्धा तथा प्रेम का भाव है, तो स्वाभाविक रूप से ही उसका प्रभाव काफी भिन्न होगा। इसी प्रकार, भले ही हम मंत्रदीक्षा के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति के संचार की वास्तविक प्रक्रिया न समझ सकें, पर इतना तो जानते ही हैं कि एक जलते हुए दीपक से ही दूसरा दीपक जलाया जा सकता है। अत: किसी व्यक्ति के जीवन को आलोकित करने के लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जिसका जीवन पहले से ही आलोकित हो। गुरु द्वारा शिष्य में शक्ति के संचार का यही तात्पर्य है। इस प्रकार के सजीव सम्पर्क के बिना शक्तिसंचार असम्भव है।

मंत्रों में छिपी शक्ति

ऐसे सजीव सम्पर्क के द्वारा मंत्र अधिक शक्तिशाली हो जाता है। इसी शक्ति के संरक्षण हेतु शास्त्रों द्वारा शिष्यों को इस विषय में गोपनीयता बरतने का आदेश दिया गया है और इस नियम का उल्लंघन करनेवालों के लिये कठोर दण्ड का विधान किया गया है। वैसे इसका मूल उद्देश्य यह है कि लोग मंत्र को हल्के या तुच्छ रूप में न लें। व्यक्ति को बड़ी गम्भीरता के साथ मंत्र लेना चाहिए। उसके साथ परीक्षण आदि नहीं चल सकता। वह हमारे जीवन में काफी महत्त्व रखता है। जब हम ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना में मनोनियोग करें, तब हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि इसे हल्के ढंग से नहीं किया जा सकता।

गुरु केवल मंत्र ही नहीं, बल्कि वह ज्ञान भी देते हैं, जो उन्होंने अपनी निजी अनुभूति या गुरु-परम्परा से प्राप्त किया है और इसीलिए वे शिष्य को उचित पद्धति से शिक्षा देने में सक्षम हैं।

इस सन्दर्भ में एक अन्य बात भी मेरे मन में आती है। मंत्र असंख्य हैं। यदि उन सभी को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जायँ, तो हम उलझन में पड़ जाएँगे कि कौन-सा छोड़ा जाय और कौन-सा ग्रहण किया जाय। इस उलझन से मुक्त होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के निर्देशों को मानकर चला जाय, जिन्हें उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो। उन्हीं को गुरु कहते हैं।

तंत्रशास्त्र में विशेष रूप से कहा गया है कि गुरु साक्षात् परमात्मा हैं। गुरुस्तोत्र में लिखा है, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु: गुरुर्देवो महेश्वर: । गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम: ।' – गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु शिव हैं, गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं; ऐसे गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।

गुरु तथा परब्रह्म को अभिन्न माना गया है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सच्चिदानन्द ही गुरु हैं और गुरु ही सच्चिदानन्द हैं। वेदों तथा शास्त्रों के साथ इस उक्ति की संगति बैठ जाती है। परन्तु मंत्रदीक्षा लेते समय हम इस बात की उपलब्धि नहीं कर पाते कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही हमें दीक्षा दे रहे हैं। हम सोचते हैं कि हमने सही पथ पर चलानेवाले एक ऐसे व्यक्ति-विशेष को गुरु के रूप में चुन लिया है, जो जन्म-मृत्यु या अनेक जागतिक दुर्बलताओं के अधीन हैं; उनकी जागतिक क्षमताओं की सीमा है, अत: वे ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो सकते। परन्तु शास्त्र हमें स्पष्ट शब्दों में बताते हैं कि गुरु और ईश्वर अभिन्न हैं। इससे क्या शास्त्र तथा वास्तविकता के बीच विरोधाभास नहीं उत्पन्न होता? हाँ, एक दृष्टि से तो ऐसा होता है। परन्तु इस मामले में बात कुछ मूर्तिपूजा के समान है। हम

ईश्वर के एक विशेष रूप की कल्पना करके उनकी मूर्ति बनाते हैं। मूर्ति को ऐसी चीजों से बनाया जाता है, जो जड़ पदार्थ है और हम उसी की पूजा तथा ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? क्योंकि हम अनन्त की धारणा नहीं कर सकते, निर्गुण-निराकार तत्त्व हमारी कल्पना के परे है। अत: हमें किसी एक रूप का आश्रय लेना पड़ता है; वह चाहे कोई मूर्ति, चित्र या प्रतीक ही क्यों न हो। पृथ्वी पर ऐसा कोई भी धर्म नहीं है, जिसमें मूर्तिपूजा या प्रतीकपूजा न हो। मूर्ति या प्रतीक के बिना हम किसी भी प्रकार ईश्वर की धारणा नहीं कर सकते। यहाँ तक कि वे धर्म जो मूर्ति को मन से पूरी तौर से निकाल डालने के पक्षधर हैं, वे भी किसी-न-किसी प्रतीक का आश्रय लेते ही हैं।

मंत्र ईश्वर का प्रतीकात्मक स्वरूप है

मंत्र ईश्वर का प्रतीक है, शब्द के रूप में प्रकट होनेवाला ब्रह्म है। बहुत-से साधकों ने मंत्र का अति ज्योतिर्मय रूप में दर्शन किया है। यद्यपि धर्म के क्षेत्र में ऐसे अनेक अलौकिक उदाहरण मिलते हैं, परन्तु तर्क-विचार के द्वारा हम प्राय: इन अनुभूतियों की व्याख्या नहीं कर सकते। ये सब तर्क के अतीत हैं। हम अविश्वासियों के समक्ष इस बात को प्रमाणित नहीं कर सकते कि ये सारी अनुभूतियाँ सच्ची हैं। ईश्वर की कल्पना, चाहे किसी मूर्ति या शब्द या प्रतीक के सहारे ही क्यों न की जाय, ईश्वर-प्राप्ति के लिये यह परम आवश्यक है। सामान्य मनुष्य का मन किसी आकार के सहारे ही ईश्वर की धारणा कर सकता है, निराकार ईश्वर की धारणा नहीं कर सकता। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या हम चिर काल तक केवल रूप के भीतर ही आबद्ध रहेंगे या फिर रूप के माध्यम से अरूप में भी पहुँच सकेंगे? मन की वर्तमान अवस्था का रूपान्तरण हुए बिना हम अचानक ही निराकार में नहीं पहुँच सकते। जैसे बिल्कुल शुरुआत में हम आकार या प्रतीक के बिना किसी भी विषय या वस्तु का चिन्तन नहीं कर सकते, वैसे ही साधना की प्रारम्भिक अवस्था में हम बिना किसी मूर्ति या प्रतीक के ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते। अत: मूर्ति या प्रतीक परम आवश्यक है और मंत्र भी ईश्वर का प्रतीक है।

मान लो हमें ईश्वर की महिमा को प्रकट करनेवाले किसी विशेष रूप से प्रेम है। हम उस रूप का विकृत किया जाना बिल्कुल भी नहीं पसन्द करेंगे। इसी प्रकार मंत्र को भी विकृत करना नहीं चलेगा। उसका बिना किसी परिवर्तन के जप करना होगा। इस नियम का निष्ठापूर्वक पालन करना होगा। इसके अतिरिक्त एकाग्रता की उपलब्धि के लिये हमें एक सुनिश्चित साधना-पद्धति के अनुसार ही चलना होगा।

साधना-पथ में प्रगति के लिये क्या गुरु के पास जाना आवश्यक है? वस्तुत: यही स्वाभाविक क्रम है। गुरु में भी अवश्य कुछ विशेषताएँ होनी चाहिये, ताकि वे अज्ञानी शिष्य का मार्गदर्शन कर सकें। पहली बात तो यह कि उन्हें 'श्रोत्रिय' अर्थात् शास्त्रों का जानकार होना चाहिये। परन्तु विद्वत्ता मात्र से ही कोई गुरु नहीं हो सकता। उन्हें सच्चा ज्ञानी होना चाहिये। उन्हें तत्त्व की अनुभूति से सम्पन्न होना चाहिये। 'ज्ञानी' का अर्थ है तत्त्ववेत्ता या तत्त्वद्रष्टा। दूसरी बात, उन्हें 'अवृजिन' या निष्पाप होना चाहिये और उनकी जीवन-यात्रा शास्त्रीय आदर्शों के अनुरूप हो। उन्हें पूर्णत: पवित्र होना चाहिये। और अन्तत: उन्हें 'अकामहत' अर्थात् सभी प्रकार की कामनाओं से रहित होना चाहिये। शिष्य के साथ उनका सम्बन्ध पूर्णत: नि:स्वार्थ होना चाहिये। मंत्रदान करने के बाद उनकी शिष्य से किसी प्रकार की स्वार्थसिद्धि की कामना नहीं होनी चाहिये। गुरु के रूप में किसी को स्वीकार करने के पूर्व इन्हीं बातों पर हमें विशेष रूप से विचार करना होगा।

शिष्य की योग्यताएँ

और शिष्य में कौन-से गुण होना आवश्यक है? उसमें अपने चुने हुए लक्ष्य तक पहुँचने के लिये आन्तरिक आग्रह होना चाहिये। उसे मात्र कुतूहल निवारणार्थ दीक्षा लेने की इच्छा न हो। उसमें गुरु के निर्देशों का पालन करने की अदम्य निष्ठा हो। शिष्य का चरित्र शुद्ध होना चाहिये। गुरु तथा शिष्य, दोनों की चरित्र-शुद्धि पर समान बल दिया गया है। शिष्य को अहंकारी या उद्धत नहीं, बल्कि विनयशील होना होगा। परम श्रद्धाभाव हो, तभी गुरु का आश्रय लेना सम्भव है। गुरु को स्वीकार करने के पूर्व उनकी जाँच कर लेना जरूरी है, तथापि शिष्य बनने के बाद उनके निर्देशों का निष्ठापूर्वक पालन करने की विशेष आवश्यकता है। शिष्य की विनम्रता ही उसे गुरु के ज्ञान को ग्रहण करने का एक उपयुक्त आधार बनाती है। विनम्रता, निष्ठा, पवित्रता तथा सेवा का मनोभाव न हो, तो 'गुरुसंग' मात्र से कोई लाभ नहीं होगा। इसीलिये उपनिषदों में कहा है – '**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**' (मुण्डक उपनिषद् १.२.१२) – शिष्य को हाथ में समिधा (यज्ञकाष्ठ) लिये हुए ज्ञानी या ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए। 'समिधा' सेवा का प्रतीक है। उन दिनों यज्ञ के अनुष्ठान हेतु गुरु को समिधा की आवश्यकता होती थी। यज्ञकाष्ठ का बोझ लिये हुए गुरु के पास जाने का तात्पर्य है – शिष्य गुरु की सेवा करने को इच्छुक हो। इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि सेवा से गुरु प्रसन्न होंगे, बल्कि यह कि गुरु की सेवा से शिष्य की चित्तशुद्धि होती है, जो उनके निर्देशानुसार चलने के लिये आवश्यक है। इसके बाद वह गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए निश्चिन्त भाव से उनके आदेश का पालन कर सकेगा।

गुरु और शिष्य

धर्मदान कोई व्यावसायिक उद्यम नहीं है और धर्मग्रहण भी कोई दुकानदारी नहीं है। स्वार्थसिद्धि का मनोभाव गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को नष्ट कर देता है। शिष्य में पूर्ण विनम्रता तथा सेवा का भाव रहे, उसे किसी वस्तु के बदले में विद्या को खरीदना नहीं है, बल्कि शिक्षार्थी के रूप में स्वयं को गुरु के चरणों में समर्पण करना है। आध्यात्मिक ज्ञान – शिष्य के विनय तथा सेवाभाव के द्वारा गुरु से दानस्वरूप प्राप्त होता है। गुरु शिष्य को दीक्षा देकर उसे साधना-मार्ग पर चलाने की शुरुआत करता है। स्वामी ब्रह्मानन्द ने इस विषय में बहुत-सी बातें कही हैं। उनके उपदेशों को पढ़कर अनेक मूल्यवान निर्देश प्राप्त हो सकते हैं। उन्होंने खूब सरल तथा स्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी है।

आध्यात्मिक ज्ञान पुस्तकों के अध्ययन द्वारा अर्जित नहीं किया जा सकता। इसे नम्रता, धैर्य तथा अटल श्रद्धा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। श्रद्धा पर काफी बल दिया गया है। श्रद्धा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है। भौतिक विज्ञान पढ़ने के लिये श्रद्धा की जरूरत नहीं पड़ती, परन्तु शास्त्र-अध्ययन और विशेषकर धर्मजीवन बिताने के लिये श्रद्धा की खूब आवश्यकता है। श्रद्धा की आवश्यकता के विषय में वेदों में एक सुन्दर दृष्टान्त है। गुरु ने शिष्य को बताया कि ब्रह्म अति सूक्ष्म है और विश्व-ब्रह्माण्ड उसी से प्रादुर्भूत हुआ है। परम सत्ता की अखण्डता तथा एकत्व को समझाने के लिये गुरु ने उदाहरण दिया – जैसे मधुमक्खियाँ अपना मधुचक्र तैयार करने के लिये विविध प्रकार के फूलों से मधु संग्रह करती हैं, परन्तु बाद में सब मिलकर एक हो जाता है; उसी प्रकार समस्त आत्माएँ ब्रह्म में एकत्व को प्राप्त होती हैं। यह सुनकर शिष्य बोला – कृपया मुझे एक बार और समझाइये। अर्थात् गुरु के उपदेश से शिष्य को आशानुरूप सत्य की अनुभूति नहीं हुई। तब गुरु ने एक अन्य दृष्टान्त दिया। शिष्य ने पुन: वही प्रश्न दुहराया और गुरु ने एक और दृष्टान्त दिया। शिष्य ने उनसे एक बार फिर व्याख्या करने को कहा। आखिरकार गुरु बोले, '**श्रद्धस्व सोम्य**।' (छान्दोग्य उप. ६.११.१) हे वत्स, श्रद्धावान बनो। व्याख्या, विश्लेषण या दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म को नहीं समझाया जा सकता। दृष्टान्त हमारे प्रत्यक्ष या इन्द्रियगोचर वस्तुओं के आधार पर दिये जाते हैं, परन्तु यहाँ हम एक ऐसी वस्तु को जानना चाहते हैं, जो इन्द्रियों के परे है। अत: इस मार्ग में क्रमश: अग्रसर होने के लिये काफी श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता है। विश्वास के बिना हम आगे बढ़ ही नहीं सकते।

तो क्या श्रद्धा-विश्वास का अर्थ यह है कि गुरु जो कुछ भी कहते हैं, उसे हमें आँखें मूँदकर स्वीकार कर लेना होगा? नहीं, सच्चे गुरु कभी ऐसा नहीं कहते। स्वयं श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों को अन्धे के समान अपना अनुसरण करने से मना किया था। कहा था, 'मैं कह रहा हूँ, इसलिये मत मान लेना। यथासम्भव अपनी विचार-बुद्धि से ठोक-बजाकर लेना। जब वह पूरी तौर से ग्रहण करने योग्य प्रतीत होगा, तभी स्वीकार करना, अन्यथा नहीं।'

अत: गुरु के उपदेशों का पालन करने के लिये हमें अपनी विचार-बुद्धि को तिलांजलि दे देनी होगी, ऐसी बात नहीं है। परन्तु निरन्तर शंकालु मन लिये हुए धर्मपथ पर चलना असम्भव है। ऐसे मन के द्वारा गुरु के उपदेशों का वास्तविक तात्पर्य कभी नहीं समझा जा सकता। इसीलिये श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जितना भी सम्भव हो, गुरु की जाँच कर लेना, परन्तु एक बार जब विश्वास आ जाय कि वे मुझे सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचा देंगे, तब उनके समक्ष पूरी तौर से आत्मसमर्पण कर देना।

इसी तरह के विश्वास के साथ गुरु के पास जाना होगा और पूर्वोल्लिखित गुणों से युक्त गुरु ही हमें परमार्थ प्राप्ति के मार्ग पर परिचालित कर सकते हैं। गुरु यदि सच्चे ज्ञानी न हों, तो क्या होता है? उपनिषद् कहते हैं कि तब वह एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे के मार्गदर्शन जैसा होगा, "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**।" (कठोपनिषद् १.२.५)

प्रश्न उठता है कि यदि मुझमें अब भी दूसरों का मूल्यांकन करने की क्षमता नहीं आयी है, मेरा मन पवित्र नहीं है, शंका आदि से मुक्त नहीं हुआ है; तो फिर जो गुरु मुझसे काफी ऊँचाई पर विद्यमान हैं, उनका मैं भला कैसे मूल्यांकन कर सकूँगा? इसका उत्तर यह है कि यथासम्भव गुरु के वास्तविक उद्देश्य के विषय में नि:संशय होने का प्रयास करो। स्वयं ही विचार करो कि वे तुम्हारे आदर्श हो सकते हैं या नहीं। इसके बाद उन्हें गुरु के रूप में अंगीकार कर लो। (परन्तु) जब तुम उन्हें एक बार गुरु के रूप में स्वीकार कर लेते हो, तो पूरे हृदय से उन्हें आत्मसमर्पण कर दो। अन्यथा तुम्हारे शंकालु मन में सदा ही अशान्ति बनी रहेगी। मान लो कि हमारे गुरु चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँचे हैं। उपनिषदों में ऐसा दृष्टान्त है जहाँ गुरु ने किसी विषय में अपनी अज्ञता प्रकट की है। तब गुरु-शिष्य, दोनों ही एक अन्य व्यक्ति के पास गये, जिन्हें उस विषय का अधिक ज्ञान था। जो गुरु निष्कपट हैं, जिनमें कोई ढोंग नहीं है और जो सचमुच ही शिष्य की उन्नति तथा कल्याण के आकांक्षी हैं, वे ऐसे ही होंगे। इस मामले में एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे को पथ दिखाने जैसा शोचनीय परिणाम नहीं निकलेगा। बल्कि गुरु यहाँ पर शिष्य के एक ऐसे सहयात्री के समान होंगे, जो उसे गन्तव्य तक पहुँचा देने को उत्सुक हों। यहाँ आवश्यक होने

पर गुरु अपने शिष्य को किसी योग्यतर व्यक्ति के पास ले जायेंगे या उनका पता बता देंगे।

मान लो मुझे अपने विचार के अनुसार परम श्रद्धास्पद गुरु की प्राप्ति हो गयी है, तो क्या मुझे किसी ऐसे गुरु की जरूरत होगी, जो उनसे भी अधिक योग्य हों? मेरी जरूरत सच्ची हो, तो मुझे ऐसे गुरु की भी प्राप्ति होगी। मूल आवश्यकता सच्चाई की है। और जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यदि हम सच्चे हैं, तो सहायता अवश्य आयेगी। वे कहते हैं – थोड़ा-सा करो, तो फिर कोई आकर बता देगा, 'यह, यह।' आध्यात्मिक जीवन में यही सत्य है। क्योंकि ईश्वर ही एकमात्र गुरु हैं। ईश्वर जानते हैं कि भूल करने पर हम अन्धकार के पथ पर भटक जायेंगे। वे जानते हैं कि वे हम पर कब और कैसे कृपावृष्टि करेंगे और हमें किस प्रकार मार्ग दिखायेंगे। यदि हम अपने लक्ष्य के विषय में सच्चे हों, तो भूल होने पर भी भय की कोई बात नहीं। हमें यही बात याद रखनी होगी। यदि हममें सच्चाई न हो, तो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ व्यक्ति का मार्गदर्शन भी हमारे किसी काम का नहीं होगा। अत: साधना के मार्ग में गुरु हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगे और कोई संशय आने पर अज्ञान को दूर करके उच्चतर ज्ञान देंगे – गुरु को इसी दृष्टि से देखना होगा। शिष्य को यही भाव लेकर चलना होगा।

मार्ग छूरे की धार के समान है

एक अन्य बात भी विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि अध्यात्म-पथ पर चलना कोई सहज बात नहीं है। उपनिषदों में कहा है, "**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**।' (कठ. १.३.१४) ज्ञानीजन कहते हैं कि साधना का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है और छुरे की धार के समान तीक्ष्ण है। इस पथ पर चलते हुए पाँव कट-फट जायेंगे। यात्रा बड़ी कष्टदायी है। तथापि मार्ग चाहे कितना भी कठिन हो, यदि हममें मनोबल है, तो हम पथ की बाधाओं से हताश हुए बिना ही आगे बढ़ते जायेंगे। जो भगवान को पाना चाहता है, उसमें सुदृढ़ संकल्प तथा विश्वास का होना अति आवश्यक है। लौकिक ज्ञान के समान पारमार्थिक ज्ञान की अनुभूति का सत्यापन इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक जगत् में हम जिस वस्तु की खोज करते हैं, वह इन्द्रियों के परे है। स्मरण रखना होगा कि यदि हम पथ पर चलने में आगापीछा करें या दो-एक कदम आगे बढ़कर ही सन्तुष्ट होकर बैठ जायँ, तो कभी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेंगे। हमें ऐसे असीम धैर्य की आवश्यकता है, जो कई जन्मों तक बना रहे। निश्चय ही दो-एक दिन में या दो-चार वर्षों में भी हमें ऐसे धैर्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। परन्तु हमारा लक्ष्य इतना मूल्यवान है कि उसकी खोज में अनेक जन्म बिता देना भी सार्थक है। समुचित मूल्य दिये बिना जगत् में कुछ भी नहीं मिलता। हमारे आप्राण प्रयास के बावजूद लक्ष्य की दूरी हममें हताशा उत्पन्न कर सकती है। परन्तु हमें आशा को खोये बिना प्रतीक्षा करते रहना होगा। सम्भव है कि हमारी इच्छित वस्तु हमारे हाथों के पास ही आ पहुँची हो। कोई नहीं जानता कि वह शुभ मुहूर्त किस क्षण आ पहुँचेगा!

हममें से बहुत से लोग बाइबिल की दस कुमारियों के दृष्टान्त से परिचित हैं। वे रात के समय दीपक लेकर अपने लिये दुल्हे लाने गयी थीं, पर उन लोगों के आने में विलम्ब हो रहा था। कुमारियों ने बहुत देर तक प्रतीक्षा की। उन दस में से पाँच दीपक और तेल भी ले गयी थीं, परन्तु बाकी पाँच बिना तेल के केवल दीपक ही ले गयी थीं। दूसरी टोली ने पहली टोली से कहा, "क्या तुम हम लोगों को थोड़ा-सा तेल दोगी?" उन्हें किसी ने भी तेल नहीं दिया और वे तेल की खोज में चली गयीं। इसी बीच दुल्हे आ गये। जिनके पास तेल था, वे अपने जलते हुए दीपक को हाथ में लिये वर के साथ जनवासे में चली गयीं। परन्तु बाकी पाँच कुमारियाँ अपने दुल्हों को देखने के उस महान आनन्द से वंचित रह गयीं। (मत्तीरचित सुसमाचार, अ.२५) उन साधकों की भी ऐसी ही दशा हो सकती है, जिनके दीपकों में धैर्य का तेल नहीं होगा। हमारी खोज का लक्ष्य इतना महान है कि उसके मूल्य की कोई सीमा नहीं है और उसके लिये कोई भी मूल्य अल्प ही है; क्योंकि वे (ईश्वर) अनमोल सम्पदा हैं।

इसी प्रकार वेदों में भी एक कथा है। एक व्यक्ति पवित्र सोमलता बेचने आया। उसके रस के अभाव में सोमयज्ञ का अनुष्ठान नहीं हो सकता। उस यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले एक व्यक्ति उस लता को खरीदने के लिये मोलभाव करने लगे। उन्होंने बीस कौड़ियों की कीमत लगायी और उसके बाद वे क्रमश: कीमत बढ़ाते गये, परन्तु विक्रेता केवल यही कहता रहा, '**राजा सोमो ततो भूयात्**' – सोम इससे भी अधिक मूल्यवान है। यज्ञकर्ता द्वारा अपना सर्वस्व देकर भी उसे खरीदने की इच्छा व्यक्त करने पर भी उसे वही संक्षिप्त उत्तर मिला, '**राजा सोमो ततो भूयात्**' – सोम इससे भी अधिक मूल्यवान है। अन्त में जब यजमान ने समझ किया कि मूल्य देकर सोमलता को नहीं खरीदा जा सकता, तो उन्होंने सारी लताओं को लूट लिया।

यही भाव भागवत में भी सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है। बालकृष्ण की शरारतों से पड़ोस के लोग परेशान हो उठे थे। वे लोग अपनी सारी शिकायतें लेकर माता यशोदा के पास गये। इसके फलस्वरूप यशोदा कृष्ण पर बड़ी नाराज हुईं। उन्होंने कृष्ण को बाँधकर रखने का निश्चय किया। ग्वाले का घर होने के कारण रस्सियों का कोई अभाव न

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

कलियुग केवल नाम अधारा

स्नेहा सिंह

हम सबके मन में एक कामना छिपी होती है कि हमें कभी दुख की प्राप्ति न हो। हमें सदा सुख-ही-सुख मिलता रहे। परन्तु हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति कभी नहीं हो पाती। दुख सदा बने रहते हैं और क्रमशः बढ़ते भी जाते हैं। सभी जानना चाहते हैं कि दुख से मुक्ति और सुख-शान्ति की प्राप्ति कैसे हो। घोर निराशा के क्षणों में हमारे शास्त्र हमारे लिए आशा की किरण लाते हैं। शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर प्राप्ति कर लेने पर हमें दुःखों से मुक्ति मिल सकती है। गीता (६/२२) में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं – ईश्वर को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति को सब कुछ प्राप्त हो जाता है और उसे कुछ अभाव नहीं रह जाता। फिर भारी-से-भारी दुख भी उसे रंचमात्र भी विचलित नहीं कर पाता –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

तो भगवान की प्राप्ति से हमारे दुखों का नाश हो जायगा और हमें सुख-शान्ति की प्राप्ति हो जायगी। पर अब सवाल उठता है कि भगवत्प्राप्ति का उपाय क्या है? किस साधन को अपनाने से हमें भगवान की प्राप्ति हो सकेगी और वह साधन क्या हम-आप जैसे सर्वसाधारण के लिए भी साध्य होगा? जी हाँ, इस कलियुग में भगवान की प्राप्ति का एक बहुत ही सीधा और सरल साधन है; और वह है हरि-नाम-कीर्तन। भागवत में कहा गया है – सत्युग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ और द्वापर में परिचर्या के द्वारा जो परम वस्तु मिलती है, कलियुग में मात्र हरि-नाम-संकीर्तन से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है –

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यज्तो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्-हरिकीर्तनात् ।।

श्रीरामकृष्ण भी कहते हैं कि निर्जन में गुप्त रूप से नाम लेते-लेते उनकी कृपा प्राप्त होती है, फिर दर्शन भी होते हैं। नाम से देह-मन शुद्ध होता है और ईश्वर-प्राप्ति होती है।

प्रश्न उठता है कि आखिर नाम में इतनी शक्ति कहाँ से आई कि उसका जप करने मात्र से व्यक्ति भवसागर तर जाय। भगवान जीवों पर अनुग्रह करने हेतु युग-युग में अवतार लेते हैं। वे अपने अन्तरंगों के साथ आते हैं और कार्य हो जाने पर अपने नित्य धाम में लौट जाते हैं। पर वे अपना अभय और अमृतप्रद नाम छोड़ जाते हैं। वे अपने इस 'नाम' के भीतर ही अपनी सारी शक्ति डाल देते हैं। कहते हैं कि अपने नाम में उन्होंने इतनी शक्ति दे रखी है कि इसे वाणी द्वारा बोलना या लेखनी द्वारा लिखना सम्भव नहीं है। कहते हैं कि जो नाम-कीर्तन करते हैं, न केवल उन्हीं का मंगल होता है, बल्कि जहाँ तक नाम-कीर्तन की ध्वनि जाती है, वहाँ तक यह लोगों का उद्धार करती है। गोस्वामी तुलसीदास जी तो यहाँ तक कह देते हैं –

राम न सकहिं राम गुन गाई ।।

नाम में इतनी शक्ति डालने के बाद भी हमारे करुणानिधान भगवान का मन शान्त नहीं होता। वे नामजप करने के सन्दर्भ में स्थान और काल का भी विधि-निषेध नहीं रखते। अतः कोई किसी भी अवस्था में और किसी भी समय भगवान का नाम ले कर उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है। इस विषय में श्रीरामकृष्ण एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहते थे – अमृत के कुण्ड में चाहे कोई इच्छापूर्वक उतरकर नहा ले या भूलवश गिर पड़े अथवा कोई धक्का दे कर गिरा दे, अमृत का स्पर्श होते ही वह अमर हो जाता है। इसी प्रकार भगवान का नाम चाहे जैसे भी लिया जाय, वह भगवान से मिला देता है।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

था। वे एक रस्सी उठाकर कृष्ण को बाँधने लगीं, परन्तु वह दो अंगुल छोटा पड़ गयी। तब उन्होंने उसके साथ एक रस्सी और जोड़ दी, तो भी वह दो अंगुल कम ही रह गयी। इसके बाद घर में जितनी रस्सियाँ थीं, वे सभी कृष्ण को बाँधने के लिये लायी गयीं, परन्तु इसके बावजूद वह दो अंगुल छोटी पड़ रही थी। यशोदा परेशान हो गयीं। पसीने से लथपथ हो गयीं। थक-हारकर उन्होंने कृष्ण को बाँधने की आशा छोड़ दी। तब जाकर कृष्ण ने बँधना स्वीकार कर लिया। इस कथा का तात्पर्य यह है कि हम लोग यथासाध्य साधना करके भी भगवान को पाने में समर्थ नहीं हैं। उनकी दया होने पर ही वे पकड़ में आते हैं। '**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**' (कठोपनिषद्, १/२/२३) – वे जिसे चुनते हैं, उसे ही प्राप्त होते हैं – यह बात विशेष रूप से याद रखनी होगी। आखिरकार उनकी 'कृपा' पर ही निर्भर करना होगा। जब हम पूर्ण आत्मसमर्पण करके उनकी कृपा के ऊपर निर्भर होकर रह सकेंगे, तभी हमारी सभी साधनाओं को परिपूर्णता प्राप्त होगी। ❑

❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२६८. धर्मशीलता ही सबसे बड़ा धन है

राजा चक्रवेण बड़े ही धर्मशील थे। अपना धन गरीबों को बाँटकर बड़ी सादगी का जीवन बिताते थे। एक दिन रानी ने मंत्रियों की पत्नियों को स्वर्णाभूषण से लदी देखकर राजा से स्वर्णाभूषण बनवाने की जिद की। राजा द्वारा धनाभाव की बात कहने पर रानी ने उसकी इच्छा पूरी न करने पर अन्न-जल त्यागने की धमकी देते हुए कहा, "स्वर्णपुरी लंका के राजा रावण से सोना माँगिये, वे आपको निराश नहीं करेंगे।"

विवश होकर चक्रवेण ने अपने मंत्री को रावण के पास भेजा। उन्होंने रावण से कहा, "हमारे राजा को थोड़े स्वर्ण की आवश्यकता है। यदि आप कर्ज के तौर पर थोड़ा सोना दे दें, तो बड़ी कृपा होगी। वे जल्द ही उसे वापस लौटा देंगे।" रावण ने सुना तो उसकी हँसी उड़ाते हुए बोला, "रावण अपना सोना बाँटता नहीं, बल्कि वह दूसरों से लेकर अपना कोष बढ़ता है।" बात जब मन्दोदरी को मालूम हुई, तो उसने रावण से कहा, "एक धर्मनिष्ठ राजा का इस प्रकार उपहास करना आपको शोभा नहीं देता।" रावण ने मन्दोदरी से कहा, "मेरी दृष्टि में तो कोई धर्मनिष्ठ ही नहीं है।"

मन्दोदरी उस समय कबूतरों को चावल के दाने चुगा रही थी। उसने रावण से कहा, "आपको अभी पता चल जायगा कि धर्मनिष्ठ कौन है।" उसने कबूतरों से कहा, "तुम्हें रावण की कसम है कि यदि तुमने दाना चुगना बन्द नहीं किया, तो तुम्हारी गरदन टूट जायगी।" कबूतरों ने दाना चुनना बन्द नहीं किया। इसके बाद वह कबूतरों से पुन: बोली, "तुम्हें राजा चक्रवेण की कसम, तुम दाने चुगना बन्द कर दो, अन्यथा तुम्हारी गरदन टूटकर गिर पड़ेगी।" सभी कबूतरों ने चावल के दाने चुगना बन्द किया। एक कबूतर ने रानी की बात अनसुनी करते हुए एक दाना चोंच में लिया ही था कि उसकी गरदन शरीर से अलग हो गई। मन्दोदरी ने कबूतरों से कहा, "मैं राजा चक्रवेण की कसम वापस लेती हूँ। दाना चुगना शुरू करो।" कबूतरों ने पुन: दाना चुगना शुरू किया। रावण ने यह चमत्कार देखा, तो उसका सारा दम्भ चूर-चूर हो गया। उसे चक्रवेण की धर्मनिष्ठा की प्रतीति हो गई। उसने मंत्री को बुलवाकर बहुत-सा सोना देकर कहा, "राजा से कह देना कि सोने को लौटाने की आवश्यकता नहीं।"

मंत्री ने लौटकर चक्रवेण को जब सारा हाल सुनाया, तो उस समय वहाँ रानी भी उपस्थित थीं। उसे भी पति की धर्मशीलता का बोध हो गया। उसे राजा से स्वर्णाभूषण के लिये जिद करने का पश्चात्ताप हुआ और उसने राजा से रावण का सोना लौटा देने को कहा।

२६९. पोथी पढ़ि-पढ़ि क्या हुआ

इमाम गज़ली इज़ाली तब युवक थे। एक दिन वे जंगल में से होकर जा रहे थे कि उन्हें थकावट महसूस हुई और विश्राम करने के निमित्त वे एक पेड़ की छाया में लेट गये। इतने में डाकुओं का एक दल वहाँ आया और उसके सरदार ने गजली से कहा, "तुम्हारे पास जो कुछ भी हो, वह सब हमारे हवाले कर दो।" गज़ली बोले, "मैं तो एक मामूली फकीर हूँ। मेरे पास इन किताबों के अलावा कुछ भी नहीं है।" सरदार को विश्वास नहीं हुआ। उसने जब उनकी तलाशी ली, तो झोले में केवल कुछ किताबें ही दिखाई दीं। वह बोला, "ये तो धार्मिक ग्रन्थ हैं। मैं इन्ही को ले जाऊँगा।" सुनते ही गज़ली इज़ाली घबरा गये, बोले, "नहीं नहीं। इन्हें मत लेना, इनमें अच्छी बातें लिखी हुई है। इन्हें ले लोगे, तो मैं इनके ज्ञान से वंचित हो जाऊँगा।"

यह सुनकर सरदार ठहाके मारकर हँसने लगा और बोला, "तुम ऐसे कैसे फकीर हो, जो इतने दिनों तक इन किताबों को अपने पास रखे हुए हो ! उनमें जो कुछ लिखा है, उन्हें इन्हीं में रहने दिया। ऐसा ज्ञान किस काम का, जिसे तुम अपने दिलो-दिमाग में नहीं बैठा सके।" सरदार के इन शब्दों ने गज़ली के हृदय को छू लिया। उन्होंने महसूस किया कि वे इन पुस्तकों को केवल पढ़ते ही रहे हैं। उसमें निहित ज्ञान को आत्मसात् नहीं किया और यह उनकी महान भूल है। उन्होंने सरदार से माफी माँगी और अपनी किताबें लेकर चले गये। बाद में वे गज़ली एक धर्मगुरु के रूप में प्रसिद्ध हुए।

धर्मग्रन्थ सन्मार्ग दिखाने का काम करते हैं। उनमें उच्चतर आदर्श जीवन के सूत्र निबद्ध होते हैं। उनमें लिपिबद्ध तत्त्वों का पठन, मनन और चिन्तन करना चाहिये। इससे जीवन में सदाचार आता है, व्यक्तित्व में निखार आता है और अन्तरंग चरित्र का भी रूपान्तरण हो जाता है। किताबी ज्ञान को अपना स्वभाव बना लेने में ही जीवन की सार्थकता है। ❑

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उन्हें 'राखाल महाराज', 'राजा महाराज' या केवल 'महाराज' के रूप में भी सम्बोधित किया जाता था। उनके ये संस्मरण बँगला 'उद्‌बोधन' के मार्च १९८९ अंक में प्रकाशित हुए थे। इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने। – सं.)

जहाँ तक स्मरण आता है मैंने १९१० ई. में पहली बार महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) का दर्शन किया था। बचपन से ही श्रीरामकृष्ण मठ तथा मिशन के आदर्श तथा कार्यप्रणाली से परिचित रहने के कारण मन में इच्छा थी कि मौका मिलते ही मैं दक्षिणेश्वर, बेलूड़ मठ आदि स्थानों और श्रीमाँ, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ('म') के दर्शन करूँ। इस संकल्प के साथ ही मैं अपने शहर (ढाका) से कलकत्ता आया। माताजी और श्री 'म' का दर्शन करने के दो-एक दिन बाद ही सरस्वती-पूजा के दिन नाव में गंगा पार होकर मैं बेलूड़ मठ पहुँचा। घास से आवृत्त मठ-प्रांगण को पारकर साधु-निवास की ओर जाते हुए मैंने देखा कि महाराज खुले बरामदे में फाटक की ओर मुख करके बैठे हैं। पहली बार मठ में जाकर मैंने महाराज का इसी रूप में दर्शन किया। मेरे लिए यही महाराज का प्रथम दर्शन था। यह मुझे एक अपूर्व संयोग-सा प्रतीत हुआ था।

वैसे परवर्ती काल में मुझे स्वामी प्रभवानन्द तथा अखिलानन्दजी से सुनने को मिला कि उन्हें भी कुछ इसी तरह की अनुभूति हुई थी। मैंने महाराज को प्रणाम करने के बाद उनकी चरणधूलि ली। उन्होंने मुझसे सस्नेह प्रश्न किया कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ रहता हूँ। मैंने बताया कि स्वामीजी ढाका में जाकर जिस मकान में ठहरे थे, उसके अत्यन्त निकट ही हमारा घर है। इसके बाद मैं अपने घर के आसपास का वर्णन करने लगा, क्योंकि मुझे ऐसा ख्याल आ रहा था कि महाराज भी स्वामीजी के साथ ढाका गये थे और इस कारण उन्हें वहाँ की कुछ बातें याद होंगी।

महाराज ने टोकते हुए कहा, "नहीं, मैं वहाँ नहीं गया था।"

मैं बोला, "आप वहाँ नहीं गये थे?"

महाराज ने पूछा, "नहीं, तुम मुझे ले चलोगे?"

मैंने उत्तर दिया, "अवश्य !"

उन्होंने पूछा, "किस प्रकार ले जाओगे?"

मैं बोला, "जो सज्जन स्वामीजी (विवेकानन्द) को उस अंचल में ले गये थे, उन्हीं से कहूँगा। वे ही आपके जाने का सारा बन्दोबस्त कर देंगे।" महाराज ने मृदु हास्य के साथ कहा, "ओह, तो तुम मुझे इस प्रकार ले जाओगे?" इसके बाद महाराज ने मुझे मन्दिर में ठाकुर को प्रणाम करने तथा स्वामी प्रेमानन्द से मिलने को कहा। मैं ऊपरी मंजिल में स्थित मन्दिर में गया। फिर नीचे उतरने पर मुझे प्रसाद दिया गया। इसके बाद मैं गंगा के घाट पर हाथ धोने गया। फिर सीढ़ी से ऊपर जाते समय मैंने देखा कि एक सौम्य-मुख साधु नीचे उतर रहे हैं।

उन्हें प्रणाम करने के बाद मैंने पूछा, "स्वामी प्रेमानन्द महाराज कहाँ हैं?" उन्होंने स्वयं अपनी ओर इंगित करते हुए कहा, "यहाँ।" बाबूराम महाराज से बातचीत करने के बाद मैं विदा लेने को महाराज के पास गया। उस दिन संध्या के समय दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा थी। पास में ही फेरी-घाट था और वहाँ कैसे जाना होगा यह महाराज ने मुझे बतला दिया। उन्होंने मुझे रास्ता दिखाने को साथ में एक आदमी भी दिया। यथासमय नौका न मिलने के कारण उस दिन गंगा पार होकर मुझे दक्षिणेश्वर पहुँचते काफी रात हो गयी थी।

१९११ ई. के दिसम्बर माह में मैंने महाराज का द्वितीय बार दर्शन किया। मठ भवन के नीचे के बरामदे में एक बड़े बेंच पर वे गंगा की ओर मुख किये बैठे हुए थे। मैं उनके ठीक सामने एक अन्य बेंच पर बैठ गया। उस समय दिन के लगभग ग्यारह बजे थे। उसी समय एक सज्जन आ पहुँचे। महाराज ने खड़े होकर उन्हें नमस्कार किया। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि ये कौन होंगे? महाराज ने मुझसे पूछा, "तू इन्हें पहचानता है?" मैं बोला, "मैंने इन्हें दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में पूजा करते देखा है।" महाराज बोले, "ठीक कहता है, ये हमारे रामलाल दादा हैं – ठाकुर के भतीजे।"

श्रीरामकृष्ण संघ के साथ खूब घनिष्ठतापूर्वक जुड़े रहने तथा संन्यास-जीवन के बारे में खूब श्रद्धा का भाव पोषित करने के बावजूद मैं तब तक संन्यास ग्रहण करने का संकल्प नहीं कर सका था। महाराज के पास जितनी बार भी गया हूँ, प्रत्येक बार उन्होंने विविध प्रसंगों के माध्यम से मुझे समझा दिया है कि मेरे भावी जीवन की सारी बातें वे पहले से ही जानते हैं। उन्होंने कहा था, "जितना भी हो सके, यहाँ बार-बार आना। इससे तुम्हारा लाभ ही होगा, नुकसान नहीं।"

इसके बाद कई वर्ष महाराज से भेंट नहीं हुई, क्योंकि मैं जब भी मठ में पहुँचा, तो पता चला कि वे बाहर गए हुए हैं। इस बीच स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के साथ मेरी काफी घनिष्ठता हो गयी थी। इसके बाद मैंने महाराज को ढाका में देखा। वहाँ प्रेमानन्दजी ने महाराज से मेरा परिचय कराते हुए

कहा, "यह लड़का यहाँ मठ के लिए एक जमीन प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है।" महाराज बोले, "मैं इसे पहचानता हूँ। यह जब मठ में आता था, तब तुम मठ में नहीं थे।" इस पर मैंने कहा, "कई साल पहले मैंने मठ में महाराज के साथ भेंट की थी।"

महाराज मेरी ओर देखते हुए बोले, "तू मेरे लिए थोड़ी-सी जगह बना सकेगा?" उन्होंने ठीक किस अर्थ में यह बात कही, पहले तो मैं इसे समझ नहीं सका। उन्होंने पुन: वही प्रश्न किया। मैं बोला, "महाराज, यह सब आप ही के लिए तो है!" वे सरल भाव से हँस पड़े। तब मैं उनके प्रश्न का यह अर्थ समझ नहीं पाया था कि क्या मेरे हृदय में उनके लिए जगह हो सकेगी? उनकी सामान्य उक्तियों में भी कितना गहन अर्थ हो सकता था – यह उसी का एक निदर्शन है। हम लोग सर्वदा लक्ष्यार्थ को पकड़ नहीं पाते।

एक बार कभी महाराज ने मुझसे कहा था, "ध्यान-जप जैसे कर रहे हो, वैसे ही किए जाओ।" बचपन से ही मैं प्रतिदिन उपासना किया करता था। परन्तु इसके द्वारा कुछ प्रगति हो रही है या नहीं, और मैं ठीक पथ पर बढ़ रहा हूँ या नहीं – यह मेरी समझ में नहीं आता था। परन्तु महाराज को मैंने इस विषय में कुछ भी नहीं कहा था। इसीलिए उनकी इस बात ने मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया। उन्हें कैसे पता चल गया? मैंने तो कभी उनसे उपदेश माँगे नहीं। उन्होंने कई बार मुझसे कहा था, "अधीर न होना।" पता नहीं उन्होंने मुझे ठीक क्या कहना चाहा था। मुझे लगता है कि मैंने उनसे धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की, तो उन्होंने मुझे कई चीजें बताने के बाद कहा था, "तुम्हारा नया जन्म होगा।" उस समय सचमुच ही मुझे बोध हुआ कि मेरे भीतर एक आलोक जल उठा है और वह अब भी बुझा नहीं है। क्रमश: अनुभव होने लगा कि मेरे अन्तर में मानो ज्ञान का भण्डार खुल गया है। मानो पूरा धर्म-जगत् मेरे लिए अतीव परिचित हो गया।

१९१६ ई. तक मैं निश्चित नहीं कर सका था कि साधु-जीवन अपनाऊँ अथवा नहीं। उसी समय मैंने इस विषय में महाराज से सलाह की याचना की। वे बोले, "जब तक तुम्हारी माँ जीवित हैं, तब तक तुम उन्हें छोड़कर नहीं आ सकते। उनकी देखभाल करनेवाला और कोई नहीं है। तुम उनकी सेवा करो। इस समय केवल सत्य को पकड़े रहो और ब्रह्मचर्य का पालन करो।" इसके अतिरिक्त उन्होंने मुझे अन्य कोई भी नियम पालन करने का आदेश नहीं दिया।

दीक्षा के समय मैंने महाराज से पूछा, "इष्टदेवता के साथ मेरा क्या सम्बन्ध होगा?" उन्होंने कहा, "जितना ही तुम अपने धर्मजीवन में अग्रसर होओगे, उतना ही वे तुम्हारे भीतर गढ़ उठेंगे।... वे ही तुम्हारे सर्वस्व हैं।" इसके बाद मैंने उनसे मंत्र का अर्थ पूछा। महाराज ने उस दिन कहा था, "**मंत्र और इष्ट के बीच कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों ही एक हैं। वे ही तुम्हारे सब हैं।**" एक बात पर महाराज खूब जोर देते थे और वह यह थी कि उनके निर्देशों का नियमित रूप से धैर्य के साथ ठीक-ठीक पालन होना चाहिए। उन्होंने दो बार मुझे पुरश्चरण करने का आदेश दिया था।

श्रीरामकृष्ण के अथवा अपने विषय में महाराज बहुत कम ही बोलते थे। एक दिन बलराम बाबू के भवन में दीवाल पर टँगे हुए श्रीरामकृष्ण के एक चित्र की ओर इंगित करते हुए गृहीभक्त ललित बाबू ने महाराज से पूछा, "ठाकुर देखने में क्या ऐसे ही थे?" महाराज चित्र की ओर देखते हुए खूब गम्भीर हो गये। ऐसा लग रहा था मानो उनके मन का गम्भीर भाव उस समय भाषा में व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मेरा महाराज के साथ दक्षिणेश्वर-दर्शन का भी सौभाग्य हुआ था। वह संयोग इस प्रकार उपस्थित हुआ। एक दिन मैंने उद्बोधन कार्यालय में सुना कि महाराज ने अपने एक भक्त को कहा है कि वे दक्षिणेश्वर जाएँगे। यह सुनते ही मैं अविलम्ब दक्षिणेश्वर जा पहुँचा, क्योंकि महाराज के साथ दक्षिणेश्वर-दर्शन करना मुझे एक अपूर्व सौभाग्य-सा प्रतीत हुआ। लगभग तीन बजे वहाँ पहुँचकर मैं सदर दरवाजे के पास महाराज की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद ही मैंने देखा कि 'उद्बोधन कार्यालय' में जिन भक्त से भेंट हुई थी, उन्हीं की गाड़ी में महाराज चले आ रहे हैं। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा कि मैं वहाँ कैसे आया। नाव पर चढ़कर आया हूँ, सुनकर वे बोले, "मठ से साधु लोग एक स्टीमलांच में आ रहे हैं, जिसमें सौ यात्री बैठ सकते हैं। लौटते समय उस लांच में जाना न भूलना।" इसके बाद वहाँ एक-एक कर कई मोटर-गाड़ियाँ आयीं। उनमें स्वामी सारदानन्द, स्वामी अखण्डानन्द तथा कई अन्य भक्त थे। इसके बाद मठ से साधुओं को लिए हुए स्टीमलांच आ पहुँची। साधु, भक्त और दर्शनार्थी – कुल मिलाकर लगभग सौ लोग हो गये थे। मैंने इतने की कल्पना नहीं की थी। सोचा था कि महाराज शायद अकेले ही आ रहे हैं। भक्तगण पूजा के लिए टोकरियाँ भर-भर कर फल, फूल और मिठाइयाँ लाये थे। चारों ओर एक बड़े उत्सव का माहौल था। अखण्डानन्द महाराज ने काली-मन्दिर के सामने बैठकर स्तव-पाठ किया। उनका मुख-मण्डल भक्ति तथा भाव से आरक्त हो उठा था। साधु-भक्तों ने एक साथ मन्दिर की परिक्रमा की। परन्तु सभी मौन थे। महाराज भी कुछ बोले नहीं। हम लोगों को आशा थी कि उनसे दक्षिणेश्वर के पुराने दिनों की बातें सुनेंगे। परन्तु सारे समय महाराज का हृदय इतने गम्भीर भावों से परिपूर्ण प्रतीत हुआ कि उनकी बोलने जैसी अवस्था नहीं थी। हम लोगों को भी उनसे कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। साधु-भक्तों की

टोली ने मूक-चित्र के समान मन्दिर की परिक्रमा पूरी की। बीच में भक्तों को प्रसाद दिया गया। संध्या के समय मैं साधुओं के साथ बेलूड़ मठ लौट गया।

तीर्थस्थानों के प्रति महाराज के मन में विशेष आकर्षण था। अपने जीवन के सर्वाधिक स्मरणीय दिन मैंने महाराज के साथ वाराणसी के अद्वैत आश्रम में बिताये हैं। उस आश्रम में वे बड़े आनन्दपूर्वक निवास करते थे। बीच-बीच में वे वहाँ के उच्च आध्यात्मिक परिवेश के बारे में बोलने लगते। उन दिनों वहाँ नित्य ही पूजा-उत्सव, भजन-कीर्तन आदि होते थे। महाराज सबको खूब अच्छी-अच्छी चीजें खिलाना पसन्द करते थे।

प्रतिदिन सुबह हम लोग ध्यान करने के लिए महाराज के कमरे में जा पहुँचते। संध्या को सभी साधु उनके कमरे में आते और विविध प्रकार के प्रश्न करते। महाराज सभी प्रश्नों के उत्तर देते। कभी-कभी बड़ी ही हृदयग्राही चर्चा होती। एक दिन मैं काफी विलम्ब से पहुँचा। कमरा लोगों से भरा हुआ था। मैं साधुओं के बीच थोड़ी-सी जगह ढूँढ़ रहा था। आखिरकार मुझे बैठने की जगह मिल गयी, जिसे देखकर महाराज ने विनोदपूर्वक कहा, "पहले-पहल लाइन खींचने का अभ्यास करोगे, उसके बाद में लिखना सीखोगे। वहाँ प्रविष्ट होने के लिए पहले तुम्हें प्राथमिक नियमों का पालन करना होगा।" इस पर सभी हँस पड़े।

एक दिन मैंने महाराज से कहा, "मुझमें भगवान के प्रति प्रेम नहीं आ रहा है; फिर संसार के प्रति भी मुझे आसक्ति का बोध नहीं होता। यह क्या मेरे बुरे संस्कारों के फलस्वरूप है?" महाराज बोले, "इसके लिए तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।"

सभी जगह मैंने देखा है कि सूर्यास्त होने के बाद महाराज सेवक को बुलाकर पहले गंगाजल से हाथ धो लेते। उसके बाद वे थोड़ी देर तक हाथ जोड़े हुए बैठकर ध्यान करते।

महाराज से सर्वदा ही मुझे स्नेहपूर्ण व्यवहार मिला है। माँ की जन्मभूमि में मन्दिर बनाने के निमित्त एक बार ललित बाबू ने मुझे धन संग्रह करने को कहा। परन्तु महाराज ने इसमें सहमति नहीं दी। उन्होंने सोचा कि यह कार्य मेरे लिए काफी कष्टकर होगा। महाराज को मैंने कदाचित् ही कोई उपहार दिया होगा। परन्तु जब भी कोई चीज उनके लिए ले गया, उन्होंने उसे खूब आग्रहपूर्वक स्वीकार किया है। मुझसे कोई बड़ी भूल-त्रुटि हो जाने पर भी उन्हें कभी असन्तुष्ट होते नहीं देखा। एक बार मैं बड़ी भयंकर गलती कर बैठा। वह त्रुटि किसी भी गुरु की दृष्टि में अक्षम्य प्रतीत होती। परन्तु महाराज की क्षमाशीलता अतुलनीय थी। मैंने एकमात्र उन्हीं को ऐसा देखा, जो मनुष्य की दोष-त्रुटियों के बावजूद न केवल उससे प्रेम करते थे, अपितु मनुष्य की सारी दोष-त्रुटियों के साथ ही वे उससे प्रेम करते थे। उनके इस प्रेम ने ही मुझे बाँध लिया था। उनके उस आकर्षण से निकल आने का कोई उपाय न था। अपने शिष्यों की निन्दा-आलोचना वे कभी बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

एक बार मैं बलराम बोस के मकान में उनसे मिलने को गया। दोपहर के विश्राम के बाद वे शयन-कक्ष में ही बैठे थे। तभी श्रीरामकृष्ण की शिष्या तथा माताजी की संगिनी गोलाप-माँ उनके कमरे प्रविष्ट हुईं। वे महाराज को एक गृही-भक्त के बारे में बता रही थीं, जिन्होंने अपने घर में विशेष पूजा आदि का आयोजन करके कुछ संन्यासियों को निमत्रित करके उन्हें भोजन कराया तथा कुछ उपहार भी दिया था। बातचीत के बीच गोलाप-माँ ने कहा, "यद्यपि वे भक्त साधुओं के प्रति खूब श्रद्धा-भक्ति करते हैं, पर उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा है।" सुनकर महाराज बड़े गम्भीर हो गये और बोले, "गोलाप, तुम कुछ समझती नहीं।"

महाराज कभी-कभी स्वामी अखण्डानन्द तथा अपने अन्य गुरुभाइयों के साथ विनोद किया करते थे, जिसमें सहायक के रूप में वे मुझे भी शामिल कर लेते। पर उनकी आँखों में तथा मुखमण्डल पर सर्वदा ही एक प्रशान्ति और गम्भीरता का भाव व्यक्त होता रहता था।

महाराज अपने गुरुभाइयों के प्रति बड़े श्रद्धाशील थे। तुरीयानन्दजी उन दिनों रुग्ण अवस्था में उद्बोधन के दुमंजले पर निवास कर रहे थे। एक दिन उनके स्वास्थ्य के बारे में महाराज को सूचित करने स्वामी सारदानन्द वहाँ से बेलूड़ मठ आये। सारदानन्दजी उनकी खाट के पास खड़े होकर बातें कर रहे थे। महाराज ने उन्हें अपने पास बैठने को कहा, परन्तु सारदानन्दजी खड़े ही रहे। महाराज के बारम्बार अनुरोध पर केवल उनकी बातें रखने के लिए ही वे बिस्तर का एक कोना उठाकर खाली खाट पर बैठ गये। उनका भाव यह था कि महाराज जिस बिस्तर का उपयोग करते हैं, उस पर बैठने-योग्य वे नहीं हैं।

एक दिन सन्ध्या के समय महाराज मठ-भूमि के एक किनारे बेड़े के पास खड़े थे। थोड़ी दूरी पर कुछ गायें घास चर रही थीं। उनमें लक्ष्मी नाम की एक गाय महाराज को बड़ी प्रिय थी। उन्हें देखते ही वह दौड़कर उनके पास चली आयी। वे उसे दुलारने लगे। मैं पास ही खड़ा था। महाराज बोले, "इसे केले खाना बड़ा पसन्द है।" मेरे ऐसा पूछने पर कि "केले ले आऊँ क्या?" वे बोले, "तब तो बड़ा अच्छा होगा।" मैं तुरन्त दौड़कर गया और बाजार से एक दर्जन केले ले आया। महाराज तब भी वहीं खड़े थे। गाय भी उनके पास ही प्रतीक्षा कर रही थी।

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

भगिनी निवेदिता : एक श्रद्धांजलि

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(भगिनी निवेदिता का जन्म २८ अक्तूबर १८६७ को हुआ था। उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन महा-अध्यक्ष ब्रह्मलीन स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने उनके प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए जो व्याख्यान दिया था, वह काफी चर्चित हुआ था। प्रस्तुत है उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद। – सं.)

आज हम यहाँ एक महान् आत्मा की जन्म-शताब्दी मनाने को उपस्थित हुए हैं, जिन्होंने विदेश में जन्म लेकर भी भारत को अपनी मातृभूमि बना लिया था और इसी की सेवा में अपना जीवन निवेदित कर दिया था। हिमालय की गोद में, जहाँ पर उन्होंने अन्तिम साँस ली थी, उनकी स्मृति में एक स्मारक बना हुआ है, जिस पर लिखा है, "यहीं पर भगिनी निवेदिता चिरविश्राम में लीन हैं, जिन्होंने भारत को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था।" यह अक्षरश: सत्य है।

वे आयरलैण्ड में जन्मीं, इंग्लैंड में पलीं, भारतवर्ष उनका कर्मक्षेत्र रहा, परन्तु अपने जीवन एवं कृतित्वों के द्वारा वे समूचे विश्व की हैं। उनके आदर्शवाद तथा बलिदान की भावना ने उन्हें अमर आत्माओं की श्रेणी में पहुँचा दिया है। उनके माता-पिता निष्ठावान ईसाई थे और जन्म के समय ही उनकी माता ने उन्हें ईश्वर के सेवार्थ सर्मर्पित कर दिया था। वे भी आत्म-बलिदान तथा सत्यनिष्ठा आदि गुणों से विभूषित थीं। उनके अन्दर निहित समर्पण की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए एक महात्मा के जीवन्त संस्पर्श की आवश्यकता थी। १८९५ ई. में जब वे लन्दन में स्वामी विवेकानन्द से मिलीं, तो वह भी पूरा हो गया। इन 'हिन्दू योगी' के आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव में न आने की उनकी सावधानी तथा अपनी स्वाधीन विचारधारा के बावजूद, वे स्वामीजी की महानता और उनके सन्देश की उदात्तता के सम्मोहन में आ गयीं। फल यह हुआ जैसा कि उन्होंने बाद में कहा था, "मैंने उनके वीरतापूर्ण स्वभाव को पहचान लिया और उनके देशवासियों के प्रति स्नेह का सेवक बनने को उत्सुक हो गयीं।"

भगिनी निवेदिता भारत को स्वामी विवेकानन्द की एक अनुपम भेंट थीं। स्वामीजी ने पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति में दृढ़ बद्धमूल इन प्रतिभाशालिनी महिला को वहाँ से उखाड़ कर भारतीय भूमि में प्रतिरोपित किया और उसमें जड़ें जमाने को बाध्य किया था। भगिनी निवेदिता जैसी वीरहृदय महिला के लिये भी यह परिवर्तन पीड़ा दायक था, परन्तु अन्त में वे सफल हुईं। एक ऐसे आचार्य की शिष्या बनना तथा उनकी इच्छा के अनुरूप भारत का एक सेविका बन पाना कोई हँसी- खेल नहीं था। परन्तु स्वामीजी को मालूम था कि निवेदिता से कितनी अपेक्षा की जा सकती है और उन्हें निराश नहीं होना पड़ा। निवेदिता का अपने गुरुदेव में जो असीम विश्वास था, जिनकी देख-रेख में उनका कठोर, आध्यात्मिक प्रशिक्षण हुआ तथा श्रीमाँ ने उन्हें जो अपनी लाडली बच्ची की तरह स्वीकार किया और आशीर्वाद दिया, इन सबने मिलकर असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

भजन-कीर्तन महाराज को बड़े प्रिय थे। मठ में समवेत रूप से काली-कीर्तन और रामनाम-संकीर्तन नियमित रूप से हो, ऐसी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की थी। साधु लोगों का यह कीर्तन गाना उन्हें खूब प्रिय था और वे उन्हें खूब चाव से सुनते – ऐसा मैंने अनेकों बार देखा है। उस समय वे भाव-विभोर हो जाते थे। एक दिन शाम को मैं किसी विशेष कार्यवश बाहर जा रहा था। अनुमति के लिए महाराज के पास जाने पर वे बोले, "आज संध्या को काली-कीर्तन होगा, उसमें सम्मिलित होना न भूलना।" काशी में निवास के दौरान उन्होंने वहाँ के कई मन्दिरों में इस कीर्तन की व्यवस्था की। शास्त्रीय संगीत के प्रति भी उन्हें बड़ा लगाव था।

एक दिन स्वामी धीरानन्द ने मुझे साथ ले जाकर महाराज से कहा, "यह आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता है।" महाराज मेरी ओर देखते हुए बोले, "तुमने एक महापुरुष का दर्शन किया है, उन्हें प्रणाम किया है, उनके चरण-स्पर्श भी किये हैं। इसके बाद भी तुम्हारे मन में और क्या प्रश्न रह सकता है?"

महाराज के पास आने के पूर्व मैं गीता और उपनिषदों का नियमित रूप से पाठ करता था। परन्तु उनकी कृपा पाने के बाद ही इन सब शास्त्रों का यथार्थ मर्म समझ सका हूँ। खूब निष्ठा के साथ शास्त्र-पाठ करने के बावजूद मैं शुरू-शुरू में उनका ठीक ठीक तात्पर्य पकड़ नहीं पाता था। परन्तु परवर्ती काल में मुझे शास्त्रों का मर्म समझने में असुविधा नहीं हुई। मेरा विश्वास है कि महाराज की कृपा के फलस्वरूप ही यह सम्भव हो सका था। वे धर्म के विषय में अधिक बोलते नहीं थे। परन्तु मौन रहकर भी वे दूसरों में आध्यात्मिकता का संचार कर सकते थे। वे प्रेम और करुणा की प्रतिमूर्ति थे। उनकी अहैतुकी कृपा ही मेरा एकमात्र सम्बल है।

❑❑❑

इसके बाद तो उन्होंने विविध कार्यों के माध्यम से अपने आपको भारत की सेवा में समर्पित कर दिया। उन्होंने भारत के नवयुवकों में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा जगायी और स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपना जीवन समर्पित करने को उनका आह्वान किया। उन्होंने भारतीय नारियों की शिक्षा तथा अभ्युत्थान के लिए भी कार्य किया। भारतीय सांस्कृतिक आदर्श के विविध क्षेत्रों – यथा कला, शिक्षा, सामाजिक जीवन, धर्म, धार्मिक प्रतीकवाद आदि को पश्चिम के लिए सहजबोध बनाने हेतु उन्होंने बहुत से व्याख्यान दिए थे; और 'धर्म और साम्प्रदायिकता, 'भारतीय जीवन का ताना-बाना' 'भारतीय इतिहास की पगध्वनि, 'शिव और बुद्ध', 'काली माता' आदि ग्रन्थों का अँग्रेजी में लेखन किया था। उन्होंने अपने समय के अनेक भारतीय लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों को प्रभावित किया था।

शिक्षा के क्षेत्र में निवेदिता का जन्मजात अधिकार था और वे उसके लिये आवश्यक दृष्टिकोण तथा गुणों से सम्पन्न थीं। भारत में बालिकाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने एक स्कूल खोला था, जो आज 'निवेदिता बालिका विद्यालय' के रूप में विख्यात है। इसके अलावा भारत में राष्ट्रीय शिक्षा' की आधारशिला रखने में भी उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। कला, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, पत्रकारिता एवं राजनीति के क्षेत्रों से अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने उन लोगों को उनके अपने कार्यक्षेत्र में प्रेरणा और सहायता प्रदान की। उनका चारित्रिक बल, सरल हृदय, मौलिकता तथा अहंकार-शून्यता ने बहुतों को उनके प्रति प्रेमपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करने को विवश कर दिया था। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति थी – ''भगवान की प्रफुल्ल बच्ची''। उनकी अन्तर्निहित पवित्रता और उनके गुरुदेव (स्वामी विवेकानन्द) और श्रीमाँ के आशीर्वाद ने मिलकर मार्गरेट ई. नोबल को एक 'ज्योतिर्मयी देवकन्या' में परिणत कर दिया था।

भारत की यथासाध्य सेवा करते हुए उनकी यह धारणा बन गयी थी कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं है। रामकृष्ण मिशन ने अपने संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के आदेश पर अपने आपको राजनीति से पूर्णरूपेण अलग रखने का निर्णय लिया था और इस कारण निवेदिता मिशन पर आँच नहीं आने देना चाहती थीं। अत: संघ तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार होने के लिये उन्होंने मिशन से त्यागपत्र दे दिया, ताकि वे स्वाधीनता-पूर्वक राजनीति में भाग ले सकें: तथापि उन्होंने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाये रखा। स्वामीजी के गुरुभाइयों ने भी उनके साथ पूर्ववत् ही स्नेहभाव बनाये रखा। वे भी पहले के समान उनके साथ अपनत्व बनाये रहीं। रामकृष्ण संघ की सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने उससे औपचारिक तौर पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, अन्य किसी भी दृष्टिकोण से नहीं। कुछ क्षेत्रों में लोगों के द्वारा, जो इस निर्णय के पीछे की सत्यकथा नहीं जानते थे, उनके इस कार्य का अनुचित अर्थ लगाया गया। नि:सन्देह उनके लिये वह बड़ा ही पीड़ादायी था, परन्तु फिर भी उन्हें लगा कि अपने प्रिय संघ के प्रति तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार होने का एकमात्र यही रास्ता था।

उनकी राजनीति थोड़े आक्रामक ढंग की थी; और उनमें आवेदन-मूलक नरमपन्थी राजनीति के पथ पर चलने का धैर्य न था। इसी कारण उन्होंने 'स्वदेशी आन्दोलन' को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया था। अपनी इस उग्रवादी राजनीतिक विचारधारा के बावजूद वे विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं वाले नेताओं की मित्र थीं, क्योंकि उन्हें महसूस हुआ था कि एकता लाये बिना स्वाधीनता पाना असम्भव है। ''भारत में धर्म को सर्वत्र पुन: प्रतिष्ठित देखना'' – यही उनका एक स्वप्न था। उनका विश्वास था कि इसी से सम्पूर्ण राष्ट्र एकता के सूत्र में बद्ध होगा – एक सामान्य दुर्बलता में नहीं, एक सामान्य दुर्भाग्य या दुर्दिन में नहीं, अपितु एक महान् चिर जाग्रत राष्ट्रीयता के बोध में, सामान्य पैतृक सम्पदा में।''

निवेदिता ने अनेक दु:ख-कष्ट सहते हुए कठोर तपश्चर्या का जीवन बिताया था; वे सदा-सर्वदा इसके लिये प्रस्तुत रहतीं। स्वामी विवेकानन्द ने निम्नांकित शब्दों में उनके समक्ष बलिदान का आदर्श रखा था, ''पूर्वकाल में भी यही बलिदान ही नियम रहा है और हाय, भावी युगों में भी यही नियम रहेगा।'' निवेदिता ने गुरु-प्रदत्त इस आदर्श को अपना लिया था, क्योंकि हमें उनके 'काली माता' ग्रन्थ में मिलता है, ''अपने लिए दया की अपेक्षा न करो। मैं तुम्हें औरों के लिये दया का महान् वाहक बना दूँगी। अपने दु:ख के अन्धकार को वीरतापूर्वक स्वीकार करो और तुम्हारा दीप बहुतों के मन को प्रसन्नता से आलोकित कर देगा। छोटे-से-छोटे कार्यों को आनन्द के साथ सम्पन्न करो, उच्च पदों की इच्छा का परित्याग कर दो।''

स्वामी विवेकानन्द से, जिन्होंने उनके रूप में मातृभूमि को अपना अतुलनीय उपहार निवेदित किया था, मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इस महान् आत्मा का जीवन हमारे नवयुवकों को अपनी मातृभूमि की सेवा में सर्वदा प्रेरित करता रहे। ❑

स्वामी शुद्धानन्द (६)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

एक बार वे रंगून में स्थित रामकृष्ण मिशन के सेवाश्रम का परिदर्शन करने गये थे। वहाँ के कार्य का अवलोकन करने के बाद उनके मौन रह जाने पर वहाँ के साधु-ब्रह्मचारी थोड़े उद्विग्न हुए थे। किसी ने पूछा, "महाराज, हम लोगों के मन में यह जानने की बड़ी इच्छा है कि यहाँ के इस अस्पताल में हमारा काम-काज देखकर आपको कैसा लगा।" इस पर शुद्धानन्दजी ने आवेगपूर्वक कहा था, "अद्‌भुत! तुम लोगों का यह सब कार्य यदि ठीक-ठीक ठाकुर-स्वामीजी के प्रचार हेतु हो, तो फिर इससे बढ़कर कल्याणकारी कार्य दूसरा क्या हो सकता है?" थोड़ी देर मौन रहने के बाद वे पुन: कहने लगे, "देखो, स्वामीजी की कृपा से, उनके घनिष्ठ सान्निध्य में रहकर मैंने यही समझा है कि हमारा जो भी कर्म है – चाहे वह राहत-कार्य हो, स्कूल-कॉलेज चलाना हो, दवाखाना-अस्पताल चलाना हो, अथवा कक्षा लेना या व्याख्यान देना हो – सभी भगवत्-उपासना है, उन्हीं की महिमा का प्रचार है। मिशन के प्रत्येक कार्य के पीछे भाव है – श्रीरामकृष्ण को प्रकट करना। लोग हमारा काम-काज देखकर, हमारी ओर नहीं बल्कि ठाकुर-स्वामीजी की ओर आकृष्ट हों। ठाकुर-स्वामीजी की महिमा को व्यक्त करना ही हमारे जीवन तथा रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य है। और यदि ऐसा नहीं होता, तो भाई, यह सब कार्य चाहे जितना भी बड़ा क्यों न हो, इसे न तो स्वामीजी का कार्य और न ही ठाकुर का मिशन कहा जा सकता है।"

संघ-परिचालन के क्षेत्र में, विशेषकर रामकृष्ण संघ के समान एक विशाल धार्मिक संस्था का शुद्धानन्द जी के समान स्थिर-मति पुरुष का कुशल नेतृत्व, भावी संघनायकों के लिये चिर काल तक एक स्मरणीय आदर्श बना रहेगा। केवल रामकृष्ण संघ के भीतर ही नहीं, बल्कि बाहर भी, उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तत्कालीन कलकत्ते की कई धार्मिक संस्थाओं को वे विविध प्रकार से शक्ति तथा प्रेरणा देते रहते थे। कलकत्ते की एक ऐसी ही संस्था के संचालक के नाम लिखे हुए शुद्धानन्द जी के एक पत्र के कुछ अंश यहाँ उद्‌धृत करने योग्य हैं। इसमें उनकी संचालन-दक्षता के साथ ही उनकी असाधारण दूरदर्शिता तथा विश्लेषणात्मक शक्ति का भी कुछ आभास मिल जाता है। बेलूड़ मठ से १६ मई, १९२९ को उन्होंने लिखा है, "मूल बात यह है कि धार्मिक संस्थाओं के भीतर आपसी प्रीति-सौहार्द्र आदि का अभाव होने पर उनमें भी नियम-कानून तथा वोट द्वारा चुनाव आदि की औपचारिकता आ जाती है। वस्तुत: जिस कारण अर्थात् 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के आदर्श से प्रेरित होकर लोग किसी धार्मिक संस्था के सदस्य बनते हैं, उसे वे बाद में भूल जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि ठाकुर हम सभी को सद्‌बुद्धि प्रदान करें और काम-कांचन तथा प्रभुत्व आदि के लोभ से हमारी रक्षा करें।" शुद्धानन्द जी की यह चेतावनी, केवल वर्तमान ही नहीं, अपितु भूत और भविष्य की धार्मिक संस्थाओं के सन्दर्भ में भी सत्य है।

शुद्धानन्दजी का स्वास्थ्य कभी भी बहुत अच्छा नहीं रहा। दीर्घ काल तक निरन्तर परिश्रम के फलस्वरूप उनका शरीर काफी क्लान्त हो चला था। आखिरकार १९३४ ई. में मार्च में उन्हें अवकाश मिला। स्वामी विरजानन्द ने संघ के महासचिव का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। कुछ दिनों तक एकान्त में रहकर साधन-भजन करने के उद्देश्य से मई माह में वे हिमालय की गोद में स्थित श्यामला-ताल गये थे। उनके साथ विरजानन्द जी भी थे। सुदीर्घ अन्तराल के बाद दोनों गुरुभाइयों ने एक साथ एकान्तवास का सुयोग पाकर बड़े आनन्द का अनुभव किया – अनेक पुरानी स्मृतियों पर चर्चा हुई। कर्म-कोलाहल से दूर आकर शुद्धानन्द जी का मन स्वाभाविक रूप से ही अन्तर्जगत् में विचरण करने लगा। इस प्रकार दोनों गुरुभाइयों ने छह महीने एक साथ बड़ी शान्ति के साथ बिताये।

१९३५ ई. के अन्त में, हिमालय से उतरते समय मार्ग में वे हरिद्वार के पास कनखल में अपने एक अन्य गुरुभाई कल्याणानन्द के सान्निध्य में कुछ काल बिताने को ठहर गये थे। कनखल के सेवाश्रम में स्वामीजी के इन श्रेष्ठ शिष्य का उस समय यथायोग्य अनुष्ठान के साथ स्वागत भी किया गया था। इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि इसके मूल में स्वामी कल्याणानन्द का उत्साह तथा उद्यम ही निहित था। कल्याणानन्द ने शुद्धानन्द जी के लिये एक सुन्दर अभिनन्दन-गीत की भी रचना करायी थी। एक प्रत्यक्षद्रष्टा साधु की धूमिल स्मृति से उस गीत की कुछ पंक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो इस प्रकार हैं (भावानुवाद) –

हे ज्ञानीवर, हे शुद्धचित्त, हे संन्यासी, तुम कौन हो!

स्वामीजी की वरद कृपा से ऐसी अनुपम मेधा पाकर,
उनकी वाणी के बंगानुवाद में उसका सदुपयोग किया,
बहती सतत ज्ञान की धारा, जहाँ कहीं रहते हो तुम,
चिन्तनशील विराजा करते निज के ही 'स्व'भाव में ।।

उपरोक्त स्मृति-कथा से ही यह भी ज्ञात होता है कि उस स्वागत-सभा में साधु-ब्रह्मचारियों तथा अनुरागियों की ओर से जो सुन्दर सुललित मानपत्र पढ़ा गया था, वह भी स्वामी कल्याणानन्द के भावों तथा भाषा में ग्रथित हुआ था। उस सभा में भाषण देते हुए कल्याणानन्द ने आवेगपूर्वक कहा था, "ये (स्वामी शुद्धानन्द) हम सबके मस्तक की मणि हैं।" सचमुच ही विवेकानन्द-सूत्र में ग्रथित मणिमाला के बीच शुद्धानन्द एक अति जाज्वल्यमान मणि थे।

१९३६ ई. की २४ फरवरी को बेलूड़ मठ में अखिल विश्व श्रीरामकृष्ण-शताब्दी के उत्सव का उद्घाटन हुआ। उसी दिन अपराह्न में मठ के प्रांगण में एक धर्मसभा का अधिवेशन हुआ, जिसमें अनेक मनीषियों ने 'श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश' पर चर्चा की। स्वामी शुद्धानन्दजी ने ही उस सभा के अध्यक्ष का आसन अलंकृत किया था।

संघ-संचालन के सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर भी शुद्धानन्द जी के स्वास्थ्य में आशानुरूप सुधार नहीं हो रहा था। १९३७ ई. के प्रारम्भ में उनके शरीर पर पक्षाघात का हल्का-सा आक्रमण हुआ। वैसे चिकित्सा, पथ्य आदि के द्वारा वे शीघ्र ही स्वस्थ हो उठे। स्वास्थ्य चाहे जैसा भी रहे, वे सर्वदा आनन्द में ही रहते थे। सर्वोपरि उनकी साधु-सुलभ सहज नि:शंक-चित्तता सभी को मुग्ध किये रहती थी। एक दिन एक अपरिचित व्यक्ति सहसा पूछ बैठा, "अच्छा महाराज, आपने सब कुछ छोड़कर गेरुआ क्यों पहना?" सीधा-सादा उत्तर मिला, "सभी को यह जगत् छोड़कर जाना पड़ेगा। घर में रहने से उस पार की पुकार आने पर जाते समय बड़ा कष्ट होता है। इसीलिये सब छोड़कर गेरुआ पहनकर अभी से जाने के लिये तैयार बैठा हूँ।"

गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठा ही शुद्धानन्द के चरित्र का मूल वैशिष्ट्य था। वे स्पष्ट रूप से कहते, "थोड़ी-सी अंग्रेजी पढ़कर हम लोगों ने सभी विषयों में विशेष रूप से सन्देह करना सीखा था। परन्तु स्वामीजी की बातों पर मुझे कभी अविश्वास नहीं हुआ। क्योंकि उनकी बातें सुनते ही, उन पर ध्रुव सत्य के रूप में दृढ़ धारणा होती थी।" अद्भुत गुरु के अद्भुत शिष्य ! अपनी इस अत्यद्भुत श्रद्धा के बल पर ही वे अनायास ही दुर्विज्ञेय रामकृष्ण-तत्त्व की धारणा कर सके थे; इसके भी असंख्य संकेत हमें परवर्ती काल की उनकी अनेक उक्तियों में मिल जाते हैं। स्वामीजी की अस्फुट स्मृति में शुद्धानन्द ने लिखा है, "उनके वाक्य से परमहंस देव के बारे में एक नया आलोक मिला। जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही इस बार रामकृष्ण के रूप में आये हैं – यह बात उन्होंने स्वयं कही है, अब इसी को समझने का प्रयास कर रहा हूँ। स्वामीजी में अपार दया थी...। उन्होंने कहा था, 'इस अद्भुत रामकृष्ण-चरित्र पर तुम लोग अपनी क्षुद्र विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, चर्चा करो, अध्ययन करो – मैं तो इसका लाखवाँ अंश भी नहीं समझ सका हूँ। जितना ही इसे समझने की चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उसमें डूब जाओगे।' "

प्रसंगत: यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रतिदिन स्नान के उपरान्त थोड़ी देर बैठकर 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ का पाठ करना शुद्धानन्दजी का आजीवन अभ्यास बना रहा। यहाँ स्मरण आता है – परवर्ती काल में पटना से आये हुए एक जिज्ञासु युवक को उन्होंने कहा था, "देखो, 'वचनामृत' खूब पढ़ना। सब स्वयं ठाकुर के मुख की बातें हैं – बड़ा जाग्रत ग्रन्थ है। एक घटना सुनो। पूर्ण के मन में बड़ी अशान्ति थी। एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि 'मैं आज ही आत्महत्या कर लूँगा।' वे स्नान आदि के बाद तैयार होकर आये थे, सोचा – 'थोड़ा वचनामृत पढ़ूँगा, जो पृष्ठ पहले पढ़ूँगा, उसमें ठाकुर की जो बात होगी, उसी का स्मरण करते हुए धराधाम से विदा ले लूँगा।' वचनामृत खोलने पर उन्हें वही पृष्ठ मिला, जिसमें लिखा है – 'ठाकुर पूर्ण के लिये चिन्ता कर रहे हैं।' बस, तत्काल सब पलट गया। उनके मन में आया कि ठाकुर स्वयं ही तो मेरे लिये चिन्ता कर रहे हैं। पूर्ण के मन से आत्महत्या का संकल्प दूर हो गया।"

गुरुवाक्य में अटल विश्वास तथा उनके आदर्श के प्रति पूर्ण समर्पण ने शुद्धानन्द के जीवन में एक अनुपम सौन्दर्य ला दिया था। कहते हैं कि उनके पूर्वाश्रम के घनिष्ठ परिचित एक कट्टर ब्राह्मणवंशीय व्यक्ति ने मठ में आकर उन्हें क्षोभ के साथ कहा था, "क्यों रे सुधीर, उच्च ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर भी तुमने आखिरकार एक कायस्थ को गुरु बनाया?" इस पर तिल मात्र भी विचलित हुए बिना शुद्धानन्द ने सजल नेत्रों के साथ कहा, "कायस्थ क्या कहते हो भाई ! मैं तो यही सोच रहा हूँ कि हाय, वे चाण्डाल के घर में क्यों नहीं आये !" यह कहते-कहते उनका गला भर आया था और दोनों गालों से होकर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। धन्य है ऐसी गुरुभक्ति ! ब्रह्मविद्-वरिष्ठ युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के सुयोग्य शिष्य थे शुद्धानन्द ! एक बार उन्होंने स्वयं स्वामीजी के ही मुख से सुना था, "गुरु किसको कहते हैं? जो तुम्हारे हृदय की पुंजीभूत संस्कार-राशि को देख पाते हैं और यह भी कि उन संस्कारों ने भूतकाल में तुम्हें कैसे नियंत्रित किया है तथा भविष्य में किस दिशा में चलायेंगे अर्थात् जो तुम्हारे भूत-भविष्य को जान सकते हैं, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।"

❖ (क्रमश:) ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (३०)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

हे अर्जुन, मैंने तो कहा कि सब लोग अपनी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं, किन्तु याद रखना कि हमारी प्रत्येक इंद्रियाँ विषयों का सेवन करना चाहती हैं। इंद्रियों में राग-द्वेष छिपे हुए हैं, उसमें जमें हुए हैं। हमारी प्रत्येक इंद्रियों में राग और द्वेष, ये शत्रु एकदम अधिकार किये बैठे हैं। कभी भी उनके वश में नहीं आना चाहिए। यह भगवान का आदेश है। ये राग-द्वेष भगवान के मार्ग के शत्रु हैं। ये हमें रास्ते में लूट लेने वाले लूटेरे हैं।

हमारे प्रत्येक इंद्रियों में राग-द्वेष कैसे घुसे हुए हैं? राग कहते हैं लगाव या प्रेम को और द्वेष कहते हैं घृणा को या जो हमें अच्छा न लगे तथा उससे हमारे हृदय में जलन हो उसे। ये इन्द्रियाँ कैसे हमें वशीभूत कर बहाकर ले जाती हैं? मान लीजिये हम जप करने बैठे। जहाँ हमारा कमरा है, उसके बाजू के कमरे में भंडार घर है। खाने की बहुत-सी चीजें वहाँ रखी हुई हैं। तो देखो, कैसे मन में राग-द्वेष रहता है। अपने कमरे में जाते समय कुछ ताजी मिठाई की सुगंध आयी, कुछ मसालेदार चीजें बनी हैं, उसकी सुगंध आ रही है, मुझे जो वस्तु प्रिय है, उसकी सुगंध आ रही है, सूखा मेवा रखा है, उसकी भी याद आयी। अब उन वस्तुओं के प्रति राग उत्पन्न हुआ, पर देखा, तो उसमें ताला लगा है। तो भंडारी महाराज कहाँ है, खोजने लगे। उन्हें खोज कर रात को क्या बना रहे हो आदि सब बातें उनसे पूछने लगे। अब संध्या के समय जप करना है, इसे हम भूल गये और भंडारी महाराज को खोजकर भोजन की बात करने लगे। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसलिये हुआ कि हमारी इंद्रियों में राग और द्वेष हैं।

अपने आप में देखें कि जीवन के इतने दिन बीत गये, इंद्रियों के द्वारा कितने प्रकार के भोग सबने किये हैं, उन सबमें राग और द्वेष भरा हुआ है या नहीं? यदि है, तो इससे बचने का क्या उपाय है? भगवान कहते हैं – 'तयो: न वशमागच्छेत्' – उनके वश में नहीं आयें और यदि वश में आ गये हैं, तो उससे तुरन्त निकल जायँ।

कुछ दिन पहले मैं, राँची गया था। रास्ते में कहीं जाना था। उस गली में 'पानी-पुरी' या 'गुप-चुप' की बहुत दुकानें थीं। हमको तो वहाँ नहीं रुकना था। किन्तु कितने लोग खड़े होकर वहाँ खा रहे थे। ऐसी जगहें तो गंदगी के लिये विख्यात होती हैं। गर्मी के दिन थे। बेचने वाले को बहुत पसीना आ रहा था। वह उसी हाथ से पानी-पुरी भी दे रहा था और पसीना भी साफ कर रहा था। सोचो, पानी-पुरी का कितना स्वाद बढ़ गया होगा। किन्तु लोग देखकर भी खाये जा रहे हैं। यदि हम अपने आँख और कान खुले रखें, तो सारा संसार एक खुली पुस्तक है, जिसमें बहुत उपदेश मिलते हैं। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि खाने वाले लोग अपनी जिह्वा के वश में थे। इसलिये ध्यान नहीं दे रहे हैं कि जो आदमी हमको खिला रहा है, वह स्वयं इतना गंदा है। इसलिये भगवान कहते हैं कि जीवन में शान्ति चाहते हो तो इन्द्रियों के वश में मत होओ।

हमको अपनी प्रत्येक इंद्रियों के राग-द्वेष को पहचानकर उन पर संयम करना चाहिये, उनके वश में नहीं आना चाहिए। अगर ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारा नाश हो जायेगा। गीता में संयम की बात बहुत बार आती है, किन्तु हम उस ओर ध्यान देते हैं और बोलने वाले को भी लगता है कि भाई, क्यों संयम की बात कहें, हम लोग तो कर नहीं पा रहे हैं। किन्तु यह साफ दिखता है कि संयम नहीं करेंगे, तो अवश्य दुख भोगना पड़ेगा। सुखी रहने के लिये थोड़ा-थोड़ा संयम का अभ्यास करना चाहिए। प्रभु कृपा से आप लोग संयम का अभ्यास करते हैं, तो उसी प्रभु से प्रार्थना करें कि हे प्रभो, हमें संयम की शक्ति दीजिये। संयम का अपना एक बड़ा सुख है। जो जीवन में इसका अभ्यास कर रहे हैं, वही इसका अनुभव करते हैं।

हमें कैसे होना चाहिये ? –

बाजार से गुजरता हूँ, खरीददार नहीं हूँ।
दुनिया में रहता हूँ, तलबगार नहीं हूँ।।

जब कभी हमें धन-संपत्ति मिले, तो हम सोचने का प्रयत्न करें कि यह सब तो प्रभु ने ही दिया है, यह मेरे लिये पर्याप्त है। ऐसे सोचनेवाले व्यक्ति को ही शान्ति और आनन्द मिलेगा।

प्रवचन -५

कल की चर्चा में एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए, उसे मन में गाँठ बाँध लेनी चाहिये। वह है संयम। संयम आध्यात्मिक जीवन रूपी भवन का आधार है, इसकी नींव है। हम चाहे जिस मार्ग से आध्यात्मिकता की ओर जायँ, जिस मार्ग से ईश्वर की ओर बढ़ना चाहें, आत्मसाक्षात्कार की दिशा में आगे चलना चाहें, उस सभी मार्गों में नींव की उपयोगिता समान रूप से है। पृथ्वी में कोई भी भवन बिना नींव की आधार के नहीं बन सकता। Astrophisist खगोल वैज्ञानिक

कह सकते हैं कि उन्होंने आकाश में प्रयोगशाले और सेटेलाइट बनाये हैं। किन्तु जैसे पृथ्वी प्रत्येक भवन, प्रत्येक वृक्ष, पर्वत, समुद्र का आधार है। बिना पृथ्वी के आधार के इनका निर्माण नहीं हो सकता और न ही ये टिक सकतीं हैं। ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन बिना संयम के नहीं हो सकता। इस भ्रान्ति में हम रहते हैं कि बिना संयम के हो जायेगा। कल हमलोगों ने ३४ वें श्लोक में देखा था, जिसमें भगवान बताते हैं कि प्रत्येक इंद्रिय के अपने-अपने विषय हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि, पंचेन्द्रियों में वे दृढ़तापूर्वक जमे हुए हैं। उसमें जिह्वा और स्पर्श सुख की इंद्रिय संयम की महान शत्रु हैं। हमें जीवन में उन सबको वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आप जानकर रखें कि यदि हम आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, उच्च जीवन बिताना चाहते हैं, नैतिक जीवन बिताना चाहते हैं, जिससे हम समाज में, परिवार में, सुखी रह सकें, तो इन इंद्रियों का संयम आवश्यक है। बिना इंद्रिय संयम के हमारा मन कभी भीतर नहीं जायेगा। बाहर ही घूमता रहेगा। उससे सांसारिक काम हो सकते हैं, किन्तु जप-ध्यान साधना नहीं हो सकती। सांसारिक जीवन का यदि विकास करना हो तो हो सकता है, किन्तु सांसारिक उन्नति व्यक्तित्व का सही विकास नहीं है। आप सांसारिक उन्नति कर सकते हैं, करोड़ों की संपत्ति के अधिकारी हो सकते हैं, बहुत बड़ा व्यवसाय कर सकते हैं, बहुत संग्रह कर सकते हैं, किन्तु इससे हमारा व्यक्तित्व विघटित हो जाता है। मनुष्य महान कैसे बन सकता है? मनुष्य की जीवन में श्रेष्ठता कैसी आती है? स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है – आन्तरिक और बाह्य प्रकृति के नियन्त्रण के द्वारा। जैसे बाह्य प्रकृति ने हमको गर्मी दे दी, किन्तु हमने पंखा चलाया और ठंडा कर दिया। गुरुत्वाकर्षण के नियमों को जीतकर हम हवाई जहाज से उड़ते हैं। रॉकेट से और तेजी से ऊपर चलते हैं। तो बाह्य प्रकृति पर हमने विजय प्राप्त कर ली। एक बटन दबाया और उजाला आ गया। हमने बाह्य प्रकृति पर विजय पा ली।

किन्तु मैं आपसे निवेदन करूँ। आप गृहस्थ हैं। आपकी एक लड़की घर से ८ बजे निकलती है, और रात के १२ बजे घर आती है। आप उसको मना करते हैं, डॉटते हैं, कभी घर में बंद भी कर देते हैं, किन्तु उसके कारण माता-पिता के मन में जो बैचेनी हो रही है, वह किस ए.सी. से ठंडी होगी? क्या किसी वाशिंग मशीन से मन साफ हो जायेगा? गहराई से सोचकर देखिये कि बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करके हम सुविधायें प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सुख नहीं प्राप्त कर सकते। १८ वर्ष का बच्चा आपसे बहस करता है कि आप मुझे बंद करके रखेंगे, तो मैं तुरन्त पुलिस को बुलाऊँगा और पुलिस आपको पकड़कर ले जायेगी। क्योंकि १८ वर्ष का लड़का वयस्क हो चुका होता है। इस स्थिति में क्या आपका मन शान्त रहेगा? आप पति या पत्नी जब घर लौटकर आये और शाम को मैं तीन मित्र को लेकर आऊँगा, उनके लिये अच्छा सा नाश्ता बनवा देना, ऐसा कहकर गये। आप घर आते हैं, तो आपकी नौकरानी है, पत्नी नहीं है। पूछा तो नौकरानी बोलती है, 'बाई जी की महिला मंडला की मिटींग थी, तो वे वहाँ चली गयीं, मैं नाश्ता बना देती हूँ। उस समय आप अपने मन को उतना शान्त और प्रसन्न रख सकेंगे, जितना पत्नी के घर पर रहने पर होता? बात कड़वी तो है, पर सत्य है। बिना संयम के जीवन कभी भी संतुलित और सुखी नहीं होगा।

इसलिये आप-हम सब गीता के जो अध्ययेता हैं, जो सुनते हैं, हमारा यह कर्तव्य है, कि हमें इन्द्रियनिग्रह का प्रयत्न करना चाहिये। भले कम मात्रा में ही क्यों न हो, धीरे-धीरे होगा।

इंद्रिय निग्रह बनी बनायी वस्तु नहीं है। ऐसा नहीं है कि हम २ जून से इंद्रिय निग्रही हो गये। हमें अन्तिम श्वास तक इन्द्रिय निग्रह का प्रयत्न करना पड़ेगा। यह नहीं करने से इसके भयानक दुष्परिणाम हो सकते हैं। उसके लिए न तो प्रवचन देने की और न ही सुनने की आवश्यकता है। यह आपके हमारे अनुभव के परे है। विचार करके देखिए, जब-जब हमें शारीरिक और विशेषकर मानसिक दु:ख हुआ है, वह तभी हुआ है, जब हमारे मन पर हमारा अधिकार नहीं था। हम काम, क्रोध, लोभ को रोक नहीं पाये, इसलिये दुख हुआ। इससे कैसे बचें? 'तस्मात् इंद्रियाणि आदौ संयम्य', पहले इंद्रियों का संयम करें।

गीता-दर्शन सुन लिया, बहुत अच्छा है। किन्तु यह ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र है। इसे सुनना अच्छा है, किन्तु इसके सिद्धान्तों को आचरण में भी लाना होगा। गीता ने कहा कि तुम आत्मा हो और यह शरीर कपड़े के समान है। यह सिद्धान्त है। किन्तु उसे कैसे जीवन में उतारा जाय, यह योगशास्त्र है। यदि हम गीता पर चिन्तन करते समय तत्काल इंद्रिय संयम का अभ्यास नहीं करेंगे, तो हम गीता या किसी भी शास्त्रग्रंथ से लाभान्वित नहीं हो सकेंगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

स्वानुभूति प्रकरण (जारी) –

उपाधिरायाति स एव गच्छति
स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते ।
स एव जीर्यन् म्रियते सदाहं
कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ।।५०१।।

अन्वय – उपाधिः आयाति सः एव गच्छति, सः एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते । सः एव जीर्यन् म्रियते । अहं सदा कुलाद्रिवत् निश्चलः एव संस्थितः ।

अर्थ – उपाधि (देह-मन आदि में अहंता) आती है और वही जाती है; उपाधि ही (भले-बुरे) कर्म करती है और वही उसके (पुण्य-पाप-रूपी) फलों का भोग करती है; वही वृद्ध होती है और वही मरती है; (इन सबके बीच) मैं (आत्मस्वरूप) पर्वत के समान अचल-अटल स्थित रहता हूँ।

न मे प्रवत्तिर्न च मे निवृत्तिः
सदैकरूपस्य निरंशकस्य ।
एकात्मको यो निबिडो निरन्तरो
व्योमेव पूर्णः स कतं नु चेष्टते ।।५०२।।

अन्वय – सदा एकरूपस्य निरंशकस्य मे प्रवृत्तिः न च मे निवृत्तिः न । यः एकात्मकः निबिडः निरन्तरः व्योम इव पूर्णः, सः कथं नु चेष्टते?

अर्थ – मुझ नित्य एकरस तथा अंशरहित (पूर्ण) में न (कर्म करने की) प्रवृत्ति है और न (उससे विमुख होने ही) निवृत्ति है। जो (आत्मा) आकाशवत् एकात्मक, घनीभूत, अविच्छिन्न और पूर्ण है, वह भला कैसे कोई चेष्टा करेगा?

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य
निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः ।
कुतो ममाखण्डसुखानुभूते-
र्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ।।५०३।।

अन्वय – निरिन्द्रियस्य निश्चेतसः निर्विकृतेः निराकृतेः अखण्डसुखानुभूतेः मम पुण्यानि पापानि कुतः? हि अनन्वागतं इति श्रुतिः अपि ब्रूते ।

अर्थ – निरिन्द्रिय, मनरहित, निर्विकार, निराकार, अखण्ड ब्रह्म-सुख की अनुभूति करनेवाले मुझ (आत्मा) में भला पाप और पुण्य कहाँ से आ सकते हैं? श्रुति भी मुझे 'अनन्वागतम्' (पाप-पुण्य से अस्पृश्य – बृहदा., ४/३/२२) बताती है।

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा ।
न स्पृश्यत्येव यत्किञ्चितत्पुरुषं तद्विलक्षणम् ।।५०४।।

अन्वय – छायया उष्णं वा शीतं वा सुष्ठु वा दुष्ठु स्पृष्टम्, तद्-विलक्षणं पुरुषं यत् किञ्चित् न एव स्पृशति ।

अर्थ – किसी गर्म या ठण्डे पदार्थ अथवा भले या बुरे पदार्थ का छाया द्वारा स्पर्श होने पर, व्यक्ति को उसके स्पर्श का बोध नहीं होता, क्योंकि वह अपनी छाया से भिन्न है।

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृश्यन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ।।५०५।।

अन्वय – प्रदीपवत् गृहधर्माः साक्ष्यधर्माः विलक्षणम् अविकारम् उदासीनं साक्षिणं संस्पृशन्ति न ।

अर्थ – जैसे घर में जल रहे दीपक को वहाँ होनेवाली घटनाएँ स्पर्श नहीं कर पातीं, वैसे ही (अन्तःकरण तथा विषयों के) गुणधर्म उनसे पृथक् अविकारी, उदासीन साक्षी-स्वरूप आत्मा का स्पर्श नहीं कर पाते।

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो
वह्नेर्यथा वाऽयसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथाऽऽरोपितवस्तुसङ्ग-
स्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ।।५०६।।

अन्वय – रवेः यथा कर्मणि साक्षिभावः, यथा वह्नेः अयसि दाहकत्वम्, यथा रज्जोः आरोपित-वस्तुसङ्गः तथा एव कूटस्थ-चिदात्मनः मे ।

अर्थ – जैसे सूर्य (संसार में हो रहे) कर्मों का साक्षीमात्र है, जैसे अग्नि के संयोग से लोहे में दाहकता का गुण आ जाता है, जैसे रस्सी स्वयं में आरोपित वस्तु (सर्प) से असंग रहती है, वैसे ही मैं कूटस्थ चैतन्य-स्वरूप आत्मा भी (साक्षी, असंग) स्वभाव वाला हूँ।

कर्तापि वा कारयितापि नाहं
भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम् ।
द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं
सोऽहं स्वयंज्योतिरनीदृगात्मा ।।५०७।।

अन्वय – अहं कर्ता अपि वा कारयिता अपि न (अस्मि) । अहं भोक्ता अपि वा भोक्ता अपि वा भोजयिता अपि न (अस्मि) अहं द्रष्टा अपि वा दर्शयिता अपि न (अस्मि) । अनीदृक् सः अहं स्वयंज्योतिः आत्मा (अस्मि) ।

अर्थ – न मैं किसी कर्म का कर्ता हूँ और न करानेवाला; न मैं किसी भी भोग का भोक्ता हूँ और न भोग करानेवाला; न मैं दृश्यों को देखनेवाला हूँ और न दिखानेवाला; मैं तो इन्द्रियों का अगोचर वह स्वयंज्योति आत्मा हूँ।

❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेकानन्द सार्ध शताब्दी समारोह – २०१३-१४

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में २०१३-१४ में रामकृष्ण मठ-मिशन और अन्यों द्वारा देश-विदेश में आयोजित कार्यक्रम –

निःशुल्क स्वामी विवेकानन्द कैलेंडर वितरण

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर में ११ दिसम्बर, २०१३ को शहर का सबसे व्यस्ततम क्षेत्र जयस्तम्भ चौक पर श्रीमती शुभांगी आप्टे द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी का कैलेन्डर सभी यात्रियों को निःशुल्क बाँटा गया। इसका उद्‌घाटन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया।

स्वामी विवेकानन्द रथ छत्तीसगढ़ में

१ जनवरी, २०१४ को स्वामी विवेकानन्द रथ का छत्तीसगढ़ में पदार्पण हुआ, जहाँ स्वामीजी के रथ का भव्य स्वागत रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर तथा नारायणपुर के संन्यासियों और भक्तों द्वारा किया गया।

चेरापुँजी में २७ सितम्बर, २०१३ को मूल्य-आधारित शिक्षा पर एक कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसमें ४१ विद्यालयों के ६२ शिक्षकों ने भाग लिया।

कोयम्बटुर, रामकृष्ण मिशन द्वारा १७, २०, २४, २७ सितम्बर और १ अक्टूबर, २०१३ को ५ कालेजों में युवा-शिविर आयोजित हुआ, जिसमें राष्ट्रीय सेवा योजना के ५००० बच्चों ने भाग लिया।

दिल्ली, रामकृष्ण मिशन में ६ अक्टूबर, २०१३ को शास्त्रीय संगीत का आयोजन हुआ, जिसमें ३५० लोगों ने भाग लिया और १८-२० अक्टूबर, २०१३ को राज्यस्तरीय युवा-शिविर में ११४४ युवाओं ने भाग लिया।

कोलकाता, गदाधर आश्रम ने सितम्बर, २०१३ में विभिन्न स्कूलों में वक्तृता आयोजित किये, जिसमें १००० छात्र और शिक्षक उपस्थित रहे।

हैदराबाद, रामकृष्ण मिशन ने ३० सितम्बर, २०१३ को खम्मन जिले में ८०० युवकों का शिविर आयोजित किया।

कोची, आश्रम द्वारा ५ अक्टूबर, २०१३ को आयोजित युवा-शिविर में १७० युवाओं ने भाग लिया।

नरेन्द्रपुर, रामकृष्ण मिशन ने ५ अक्टूबर, २०१३ को शास्त्रीय संगीत का आयोजन किया, जिसका ८०० श्रोताओं ने आनन्द लिया।

पालाई आश्रम द्वारा ६ अक्तूबर, २०१३ को आयोजित सांस्कृतिक प्रतियोगिता में ११ स्कूल और ३ कॉलेजों के २०५ छात्रों ने भाग लिया।

पोन्नमपेट आश्रम में १८-२० अक्तूबर, २०१३ के त्रिदिवसीय आध्यत्मिक-शिविर में १७५ भक्तों ने भाग लिया।

रामहरिपुर, रामकृष्ण मिशन ने १०० नये विवेकानन्द स्टडी सर्किल आरम्भ किया।

सारदापीठ, रामकृष्ण मिशन : १३४ लोगों ने ४ अक्तूबर, २०१३ से ६ अक्तूबर, २०१३ तक बेलूड़ मठ से कामारपुकुर की पैदल यात्रा की।

सेलम आश्रम ने २६ अक्तूबर, २०१३ को क्षेत्रिय सेमिनार का आयोजन किया, जिसमें ११०० लोगों ने भाग लिया।

सिल्चर आश्रम ने अक्तूबर, २०१३ में छात्रों के लिये एक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें १४४८ छात्र और ८० शिक्षकों ने भाग लिया। ६ अक्टूबर को आयोजित भक्त-शिविर में ६०० भक्तों ने भाग लिया।

स्वामीजी के पैत्रिक निवास में २२ सितम्बर से २० अक्टूबर, , २०१३ तक आयोजित ८ विभिन्न सार्वजनिक सभा और राष्ट्रीय संगोष्ठी तथा युवा-शिविर में ७८०० लोगों ने भाग लिया।

वाराणसी सेवाश्रम द्वारा १ से ९ सितम्बर तक आयोजित ६ जिलों के २६ शिक्षा-संस्थानों में विभिन्न कार्यक्रमों में ११,६६८ छात्रों ने भाग लिया।

वृन्दावन, रामकृष्ण मिशन द्वारा आयोजित २५ सितम्बर की साइकिल रैली में ६० और लम्बी २ किलोमीटर की दौड़ में ७५० छात्रों ने भाग लिया।

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा (रायपुर) में राज्यपाल महोदय का आगमन

११ जनवरी, २०१४ को अपराह्न ३ बजे विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' मनाया गया। इस सभा में मुख्य अतिथि थे छत्तीसगढ़ के सम्माननीय राज्यपाल श्री शेखर दत्त जी और वक्ता थे विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी। राष्ट्रगान और अतिथियों द्वारा दीप-प्रज्वलन, पुष्पार्पण के बाद

विद्यापीठ के छात्रों ने वेद-पाठ और स्वामी विवेकानन्द विषयक भजन का गायन किया। उसके बाद विद्यापीठ के छात्र चिरंजीव खिलेश तड़िवेन्द्र ने 'स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत' पर प्रेरक व्याख्यान दिया। तत्पश्चात् विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने 'विवेकानन्द : एक घनीभूत भारत' नामक विषय पर बड़ा ही ओजस्वी और प्रेरणाप्रद वक्तव्य दिया। तदनन्तर रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने 'युवकों के प्रेरणाश्रोत स्वामी विवेकानन्द' पर व्याख्यान दिया। उसके बाद डॉ. कृष्णादास ने अपनी पुस्तक का संक्षिप्त परिचय दिया। उसके बाद माननीय राज्यपाल श्री शेखर दत्त जी ने डॉ. कृष्णा दास द्वारा लिखित ग्रन्थ 'कुमारसम्भव : एक शास्त्रीय अध्ययन' का विमोचन किया और अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। तत्पश्चात् हर्षवर्धन तिवारी जी ने अतिथियों को पुस्तक भेंट की। विद्यापीठ के प्राचार्य एच. डी. प्रसाद जी के धन्यवाद ज्ञापन के साथ ही सभा सम्पन्न हो गयी।

'विवेकानन्द और गाँधी' पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

८ फरवरी, २०१४ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और हिन्द स्वराज शोध-पीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में विवेकानन्द आश्रम के नव-निर्मित भव्य पांडाल में 'विवेकानन्द और गाँधी' पर राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया गया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे छत्तीसगढ़ के राज्यपाल माननीय श्री शेखर दत्त जी। अतिथियों का स्वागत करते हुये शोधपीठ के अध्यक्ष और विख्यात् अधिवक्ता श्री कनक तिवारी जी ने कहा – ''विवेकानन्द और गाँधी हमारी दो आँखें हैं, जिसे हम समझ नहीं पाते। ३० वर्ष की उम्र में जब स्वामीजी शिकागो में भारतीय संस्कृति का डंका बजा रहे थे, तब गाँधीजी विकसित हो रहे थे। स्वामीजी ने अपने छोटे भाई के द्वारा यह संदेश दिया था कि आजादी भीख माँगने से नहीं मिलेगी, खुद ही घोषित कर लो कि हम आजाद हैं।''

उसके बाद मुख्य वक्ता रामकृष्ण मिशन, बड़ोदरा के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी महाराज ने कहा – ''जब स्वामीजी १८९३ में शिकागो में थे, उस समय वही कार्य गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका में कर रहे थे। स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने भ्रमण-काल में सबसे अधिक समय गुजरात और उसमें भी पोरबन्दर में गाँधीजी की जन्मभूमि में बिताया। दोनों महापुरुषों में भले ही भौतिक मिलन न हुआ हो, किन्तु कुछ बातों में अद्भुत सामंजस्य था और अनजाने में दोनों में परस्पर प्रेम और श्रद्धा थी। विश्व के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द जैसा व्याख्यान आज तक कहीं नहीं हुआ। स्वामीजी ने राष्ट्रभक्ति की तीन कसौटी बतायी हैं। तीनों बातें दोनों ने पूरी की। देशवासियों की समस्यायें गाँधीजी के हृदय को व्यथित करती थीं। उन्होंने भी योजना बनायी। गाँधीजी ने स्वतंत्रता-आन्दोलन के लिये बहुत अधिक श्रम किया। बंग-भंग आन्दोलन चलाया। पूर्ण स्वराज की कल्पना की और शिक्षा द्वारा मनुष्य-निर्माण की घोषणा की। गाँधीजी ने काँग्रेस को नई दिशा दी, ग्राम-स्वराज के अधिकार की योजना बनाई। गाँधीजी के बिना निमंत्रण के लाखों लोग उनके आन्दोलन में जुड़ गये। महात्मा गाँधी का ट्रस्टीशिप बहुत ही लाभदायक है। स्वामी विवेकानन्द जी ने बहुत पहले ही अमेरिका में रॉकफेलर को ट्रस्टीशिप का परामर्श दिया था।''

मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के माननीय राज्यपाल श्री शेखर दत्त जी ने कहा – ''स्वामीजी कहते थे, 'मैं उस भगवान का सेवक हूँ, जिसे अज्ञानी लोग मनुष्य कहते हैं।' जब भी आप कोई कार्य करें, तो यह देखें कि इससे किसी का भला होगा कि नहीं? दोनों (स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी) के दिमाग में कितने स्पष्ट विचार हैं। उस समय लोग मस्तिष्क से अधिक पराधीन थे, शरीर से कम। गाँधीजी का सामान अँग्रेजों द्वारा फेंकने पर उन्हें गुलामी का पता चला। तबसे उन्होंने भारत को आजाद करने का बीड़ा उठाया। दोनों लोगों ने भारत के लोगों को एक अनोखा स्वाभिमान दिया है। देश को आजाद हुये ६० वर्ष हो गये, किन्तु अभी उनकी बातें सामयिक हैं। अभी भी ऐसे लोग हैं, जिन्हें दूसरे समय के खाने की, बच्चों को पढ़ाने की और बच्चियों के उज्ज्वल भविष्य की चिन्ता रहती है। हमें बहुत अधिक हाथों और कन्धों की जरुरत है। वर्क की परिभाषा है – फोर्स गुणे डिस्टेन्स। अर्थात् कार्य = बलगुणित दूरी। दक्षता के साथ भावनापूर्ण होकर कार्य करना। दोनों महात्माओं ने हमारे दर्शन की बड़े सुन्दर ढंग से व्याख्या की। हमें मनोयोग से कार्य करना है। ऐसा करें कि कोई यह न कह सके कि इससे भी अच्छा कोई कर सकता था। स्वामी विवेकानन्द ने मार्ग प्रशस्त किया और गाँधीजी ने अपना जीवन लगाया। हमारे युवकों को ऐसा प्रशिक्षण दें, जिससे सक्षमता बनी रहे।

सभा को विशिष्ट अतिथि कुशाभाऊ पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सच्चिदानन्द जोशी ने कहा – ''१९वीं शताब्दी के महानायक स्वामी विवेकानन्द जी थे और बीसवीं शताब्दी के महानायक महात्मा गाँधीजी थे।''

सभा के अध्यक्ष रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने दोनों महापुरुषों के आत्मसंयम का दृष्टान्त देते हुए कहा – ''गाँधीजी की माँ ने गाँधीजी से पवित्र-जीवन व्यतीत करने का वचन लिया था, जब गाँधीजी विदेश जा रहे थे। स्वामी विवेकानन्द जी का इतना संयम था कि वे २१ दिन तक पानी नहीं पिये। गाँधीजी ने एक वर्ष तक नमक नहीं खाया।''

धन्यवाद-ज्ञापन और संचालन श्री कनक तिवारी जी ने ही किया।

❑❑❑